सद्-असद्

सत्य-असत्य का अंग्रेज़ी अनुवाद Truth-False है, लेकिन **'सद्'** के लिए अंग्रेज़ी अथवा किसी भी विदेशी भाषा में कोई शब्द नहीं है। **सत्य भौतिक है,** देह की तरह **अस्थाई, नश्वर और मात्रात्मक** है तथा **असत्य** के **सापेक्षिक** है। सत्य होगा तो असत्य भी होगा। **'सद्'** का सापेक्षिक शब्द भी **'सद्'** ही है। **'असद्'** शब्द के अन्तर्गत समस्त भौतिक **'सत्य-असत्य'** आ जाता है। पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, दुःख-सुख, जन्म-मृत्यु, जरा-रोग, उन्नति-अवनति, मान-अपमान, लाभ-हानि आदि **'सत्य और असत्य'** में हैं। **'सद्'** शाश्वत् है, अकाल है, देहातीत, चेतन व आनन्दमय है।

''असतो मा सद् गमयः,
तमसो मा ज्योतिर्गमयः
मृत्योर्मा अमृतम् गमयः।''

दैहिक व भौतिक रूप से प्रत्यक्ष व दृश्यमान सत्य और असत्य से युक्त समस्त जीवन '**असद्'** है। **सद्,** नश्वर व दृश्यमान भौतिक जगत से परे है, अनिर्वचनीय और शाश्वत् है। **असद्** से **सद्** में आते ही तमस् (अज्ञानान्धकार) स्वतः ज्योतिर्मान हो जाता है। वहाँ अमरत्व ही होता है।

मैं डा० शिवकुमार हूँ—भौतिक एवं लौकिक दृष्टि से सत्य है, लेकिन साथ-साथ असत्य भी है। यदि पूछा जाए, कि शिवकुमार जी आप डॉक्टर कब से हैं? मैंने डॉक्टरी की उपाधि 1969 में प्राप्त की, उससे पहले मैं डॉक्टर नहीं था। आप शिवकुमार कब से हैं? कि जब से मेरा नाम रखा गया। मैं पैदायशी शिवकुमार भी नहीं हूँ। मैं अमुक-अमुक का पुत्र हूँ, भौतिक

रूप से यह सत्य है। पूछा जाए, कि ये आपके पिता कब से हैं? जब से मैंने उन्हें अपने पिता के रूप में पहचाना, तब से ये मेरे पिता हैं। लेकिन मैं वह तिथि और समय नहीं जानता, जब से मैंने उन्हें अपना पिता माना। अब मेरे पिता नहीं रहे, चार वर्ष पूर्व उनका स्वर्गवास हो गया। एक पुरुष व स्त्री परस्पर पति-पत्नी हैं, यह कुछ समय के लिए सत्य होता है, लेकिन **'सद्'** नहीं है। उनसे पूछा जाए, कि आप पति-पत्नी कब से हैं, कि चार वर्ष से। उससे पहले ये मेरी पत्नी नहीं थी और कब तक ये मेरी पत्नी रहेगी, मैं नहीं जानता। **जो आज सत्य है, कुछ वर्ष पूर्व असत्य था, जो कुछ वर्ष पूर्व सत्य था, आज असत्य है। भविष्य में न जाने क्या सत्य और क्या असत्य होगा।** इसी प्रकार हमारी आर्थिक स्थिति परिवर्तित होती रहती है। कुछ भी यहाँ स्थाई नहीं है। हमारा निवास-स्थान, पद- प्रतिष्ठा, व्यापार-परिवार, मित्र-शत्रु सब बदलते रहते हैं। यह मकान मेरा है, क्योंकि रजिस्ट्री मेरे नाम है। यह सत्य है, लेकिन **'सद्'** नहीं है। क्योंकि एक समय मेरे पास यह मकान नहीं था और कब तक यह मेरा रहेगा, मैं नहीं जानता :–

''हर मुलाकात का अन्जाम जुदाई है।''

जो मिला है, खोएगा अवश्य। जो पैदा हुआ है, मरेगा अवश्य। हमारे हर वर्तमान का प्रत्येक **'सत्य'** कभी झूठ था, भविष्य में झूठ हो जाने की पूरी सम्भावना है। **सत्य-असत्य का यह मायाजाल ही हमारा जीवन बन गया है। यही हमारी तथाकथित कर्मठता है।** हमारे शास्त्रों में इस समस्त भौतिक सत्य-असत्य को '**असद्'** की संज्ञा दी गई है। इसका **'सद्'** है :–

''सच्चिदानन्दोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

'सद्' अकाल है, शाश्वत् है, अजर-अमर है। यह नहीं कि आप कब से डा० शिवकुमार हैं, आपने कब से अमुक-अमुक को अपना पिता बनाया? बुद्धि से उठे इन प्रश्नों का वहाँ कोई स्थान नहीं है। **वहाँ सब 'सद्' ही 'सद्' है, चेतन ही चेतन है, आनन्द ही आनन्द है।** सत्य-असत्य रूप में **'असद्'** दैहिक है और **'सद्**' देहातीत है। असद् को देखा, सुना, चखा, छुआ और सूँघा जा सकता है, लेकिन सद् अदृश्य, अनिर्वचनीय, अगोचर,

मन-वाणी से परे और मात्र अनुभूतिगम्य है। We had been moving, we are moving, moving and moving, would be moving and would go on moving in Truth and False from ages to ages. इस प्रकार हम युगों-युगान्तरों से विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में सत्य-असत्य के बीच इस **'असद्'** में ही जीवन को तथाकथित जीते हुए चले जा रहे हैं। **'सद्'** किसी समय से बँधा हुआ नहीं होता। **'असद्'** की अवधि है। काल में बँधा सब कुछ असद् है। **'सद्'** शाश्वत् व अकाल है। **'सद्'** ईश्वर है।

ईश्वर **'सद्-चेतन-आनन्द'** है। **'सद्'** में न सुख है, न दुःख है। वास्तव में यहाँ सुख और दुःख दोनों में आनन्द है और इन दोनों की अनुपस्थिति में भी आनन्द है। हम इस समस्त **असद्** को **सद्** में रूपान्तरित कैसे करें? हम सब देह रूप में हैं। नाम-रूप की अवचेतना में ही जगत है, नहीं तो जगत है ही नहीं। देह रूप में पैदा होना, जीना, रोग-बुढ़ापा, मरना आदि सब कुछ सत्य है। जीवन-काल में धर्म-कर्म, पद-प्रतिष्ठा, नाम-यश, सम्बन्ध, डिग्रियाँ, धन-सम्पदा अस्थाई होते हुए भी जब जो कुछ है, तब है। हम इस सत्य में **'सद्'** को खोजने के लिए युगों-युगान्तरों से भटक रहे हैं। हम सब **'सद्'** चाहते हैं, लेकिन हमारा विचरण **'असद्'** में है। वह **'असद्'** जो सत्य-असत्य से परिपूर्ण है। प्रत्येक असत्य व सत्य का **'सद्'** यह है, कि उन्नति-अवनति, मान- अपमान, लाभ-हानि, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, मिलना-बिछुड़ना दोनों में आनन्द ही आनन्द है, क्योंकि सच्चिदानंद की रचना है।

जीवन का काल-चक्र घड़ी के समान है। जन्म-मृत्यु के बीच बँधे जीवन में आगे बढ़ना घड़ी की सुइयों की भाँति है, जो एक बजे से बढ़ते-बढ़ते पुनः एक पर आ जाती हैं। कोई वस्तु यहाँ स्थिर नहीं है। **सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि काल-चक्र के दो विपरीत बिन्दु हैं, जिसमें हम घूम रहे हैं।** जब हम तथाकथित कुछ पाते हैं, तो पहले कुछ खोते भी हैं। उदाहरणतः हमने बहुत धन प्राप्त कर लिया तो स्वास्थ्य, पारिवारिक प्रेम, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि की दृष्टि से कहीं न कहीं कुछ खोएँगे अवश्य।

जीवन में भौतिक रूप से लाभ-हानि का खाता बराबर सा ही रहता है। हम जहाँ से चलते हैं, वही पहुँच जाते हैं। **'सद्'** हमेशा **'सद्'** ही रहता है। किसी देश-काल, धर्म-कर्म, गुण-अवगुण, सम्बन्ध और मायिक जगत की किसी विधा में **'सद्'** परिवर्तित नहीं होता। **'सद्'** सत्य नहीं है, जो असत्य का सापेक्षिक हो। हम निःसन्देह सत्य और असत्य के **'असद्'** संसार में जी रहे हैं। लेकिन अज्ञात रूप से हम सब **'सद्'** ही चाहते हैं और जब तक हम सद्-चेतन-आनन्द की अनुभूति नहीं कर लेते, तब तक हम जीवन में न केवल असफल हैं, बल्कि नकारात्मक रूप से सक्रिय हैं।

हम पैदा क्यों हुए, हम नहीं जानते। हमें विशेष माता-पिता के अंश से इतनी विलक्षण मानव-देह देकर एक विशेष समय, एक विशेष ग्रह-नक्षत्र में पृथ्वी पर क्यों भेजा गया है? यह हम न जानते हैं और न जानना ही चाहते हैं। जिसने हमें इस पृथ्वी पर भेजा है, वह अवश्य ही सब कुछ जानता है। ईश्वर ने अवश्य ही विशेष कारण से मानव-देह देकर हमें इस पृथ्वी पर भेजा है। **मानव होने के नाते हम सब जानते हैं, कि जो भी हम कर रहे हैं, वह हमारे बिना भी हो सकता है।** रोज़ इतने लोग मरते हैं, बड़े-बड़े भूमिपति चले गए, दुनिया वैसी ही चल रही है। इसी प्रकार हम नहीं रहेंगे, तब भी दुनिया चलती रहेगी। एक विशेष समय हमें देह मिली है और एक विशेष समय देह हमें छोड़ कर चली जाती है। हम नहीं जानते, हम क्यों दुनिया में लाए गए हैं? जीवन-काल का भी हमें कोई ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ है, मानव-देह का एक अपना कार्यक्रम है, जो कोई नहीं जानता। क्या हमने उस परमात्मा से कभी परामर्श लिया है, कि हमें देह क्यों दी है, हमें दुनिया में क्यों लाया गया है? **हम संसार में लाए गए हैं, यह सत्य है। जो हम कर रहे हैं, वह हमारे बिना भी हो सकता है, यह भी सत्य है।** माता-पिता अथवा किसी भी रूप में जो तथाकथित कर्तव्य हमने थोपे हुए हैं, हमारे बिना भी उनका निर्वाह ईश्वर-इच्छा में किसी न किसी के द्वारा यदि होना होगा तो अवश्य होगा।

हम तनावित है, **हम स्वयं से असंतुष्ट हैं। देह और देह पर आधारित**

जगत में हम कुछ खोज रहे हैं, भटक रहे हैं, क्योंकि हमें यह ज्ञान नहीं है, कि हम क्या चाहते हैं? अनेक चाहतें पूरी होती रहती हैं और हमारी असन्तुष्टि बढ़ती ही रहती है। एक शायर ने कहा है:–

''यूँ तो तेरे बग़ैर मुझे कुछ कमी नही,
यह और बात है कि मयस्सर खुशी नहीं।
जिस ज़िन्दगी पे नाज़ है इतना हजूर को
उस ज़िन्दगी का क्या है अभी है ! अभी नहीं।''

हमें ज्ञान है, कि हमारी कोई भी श्वास, अन्तिम हो सकती है। What I am doing, what for I am doing, How far I will do and even if I attain that, so what ? **हम सम्पूर्ण जीवन से क्या चाहते हैं? न हम जानते हैं और न ही जानना चाहते हैं। जब तक यह 'सद्' जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होगी, कि मैं कौन हूँ और सम्पूर्ण जीवन से क्या चाहता हूँ, तब तक जन्मों-जन्मान्तरों में हम सत्य-असत्य के रूप में 'असद्' में ही विचरते रहेंगे।** वही तमाशा पुनः पुनः देखते रहेंगे। देह अपने एक कार्यक्रम के तहत हमें मिली है। इसका अगला श्वास भी हमारे हाथ में नहीं है। फिर भी इसीसे, इसके लिए ही कार्यक्रम बनाते रहते हैं। हमने देह पर अधिपत्य करके इसे **'असद्'** बना दिया। स्वयं को देह मानकर **'मैं'** (जीवात्मा) स्वयं भी **'असद्'** जीव हो जाता हूँ और मेरे द्वारा हुआ हर कृत्य **'असद्'** होता है। हमारा समस्त कार्य मात्रात्मक है और इसीमें हम जीवन बिता रहे हैं। हमारे कार्यों का अर्थ कुछ नहीं होता, लेकिन अनर्थ बहुत हो जाता है। अर्थ, निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ चारों **'असद्'** में आते हैं। यह मात्रात्मक जीवन है। इसे गुणात्मक जीवन में रूपान्तरित करना इष्ट व सद्गुरु-कृपा से ही सम्भव है। जिसे श्रद्धा द्वारा पाना ही मानव का **'सद्'** कर्म है।

हमें **'सद्'** चाहिए। यह **'सद्'** भारत का उत्पाद है। ईश्वर के अवतार इसी भारत में हुए। अध्यात्म हमारी ही धरोहर है। **'असतो मा सद् गमय'। सद्गुरु, वह पारब्रह्म परमेश्वर** देह धारण करके रूह से उठी आर्तनाद सुनकर प्रकट हो जाता है। जिज्ञासु जीवन से समझौता नहीं करता। वह

जानना चाहता है, कि यदि **जीवन के लिए** मेरी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है, तो मैं मात्र देह और जीवन के लिए ईश्वर प्रदत्त शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियों का दुरुपयोग क्यों करूँ?

जीवन के दो महत्त्वपूर्ण छोरों, जन्म और मृत्यु में मेरा कोई हस्तक्षेप नहीं है, तो जीवन के मध्य की योजनाएँ मेरी कैसे हो सकती हैं? मैं मानव-देह देकर धरती पर क्यों लाया गया हूँ? वास्तव में इस **'सद्'** की अनुभूति के लिए ही मुझे समस्त प्राणी जगत से पृथक् मानव-देह दी गई है। पशु यह नहीं सोच सकता। यह केवल मानव देहधारी ही सोच सकता है। मानव-देह जिसका मुझे कुछ नहीं मालूम, वह मेरी नहीं हो सकती। देह मिली है और एक दिन चली जाएगी। **'सद्' की अनुभूति का कार्य पूरा हो या न हो, क्योंकि यह कृपा-साध्य है, लेकिन जीवन के एक-एक पल का लक्ष्य यही है। 'सद्'** की अनुभूति के लिए एक ही उपाय है, कि जिसकी देह है, रोते हुए उसे समर्पित कर दीजिए। इसके बाद सब कुछ ईश्वर ही करेगा और हमारे द्वारा **हुआ सा** होगा।

'असद्' का **'सद्'** और **'सद्'**, का **'सद्'** एक ही है। जिस प्रकार **'काल'** का **'सद्'**, और **'अकाल'** का **'सद्'** एक हैं। यदि **'असद्' का अवलम्बन लेकर 'सद्' की पुष्टि, तुष्टि और प्रविष्टि होती है, तो वह 'असद्' भी 'सद्' हो जाता है।** जीवात्मा जब एक नाम-रूप की देह के साथ तद्रूप हो गया, वहीं से **'असद्'** का बीजारोपण हो गया। जीवात्मा जो स्वयं अजर-अमर और सच्चिदानंद है, वह जन्म-मृत्यु वाला जीव बन गया। उसका विशुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप आच्छादित हो गया और उसकी **'सद्'** देह जन्म-मृत्यु के दो छोरों में बँध कर **'असद्'** हो गई। मैं देह हूँ और देह मेरी है, ये भाव **असद्** के पोषक हैं। जितना दैहिक प्रकरण है, वह सब **'असद्'** है, उसका ओर-छोर नहीं है। नाम, स्वास्थ्य, धन, पद, प्रतिष्ठा, सम्बन्ध, प्राप्तियाँ, सामाजिक प्रभाव, रुतबा सब कुछ सत्य और झूठ के बीच **'असद्'** है। हर परिस्थिति बदलने वाली है, बदलने पर पहले वाली स्थिति जो सत्य थी, अब असत्य हो जाती है। **'असद्'** का मूल देहाध्यास है, कि मैं

देह हूँ। जैसेकि हम कहते हैं, कि यह मेरी गाड़ी है या मेरा घर है आदि, परन्तु हम यह नहीं कहते, कि मैं गाड़ी हूँ या मैं घर हूँ। लेकिन देह मेरी है, कहते-कहते हम स्वयं को देह मान बैठे। सबको यह कहने की आदत पड़ गई। इसलिए वह तथाकथित सत्य बन गया, कि मैं अमुक-अमुक (नाम-रूप की देह) हूँ। पहचान के लिए देह का एक नाम रखना आवश्यक था। भूल वहाँ हुई जहाँ जीवात्मा ने स्वयं को देह का नाम-रूप ही मानना प्रारम्भ कर दिया। मैं अमुक-अमुक हूँ, यह अटूट व गहन देहाध्यास में दिया गया वक्तव्य है। सद्गुरु-कृपा से यह अनुभूति होने लगे, कि सब **'मैं'** ही **'मैं'** हूँ। तब देहाध्यास से जीवात्मा मुक्त हो जाता है। ऐसे वक्तव्य **'मैं'** (जीवात्म-स्वरूप) के अति विस्तृत होने पर दिए जाते हैं। **'मैं'** (जीवात्मा) ईश्वर की ही भाँति अदृश्य व निराकार है। देह के बिना **'मैं'** शब्द रूप में प्रकट हो नहीं सकता, लेकिन न तो **'मैं'** देह हूँ और न देह मेरी है।

जब देह के साथ **'मैं'** का सम्बन्ध हो गया, वहीं से **'असद्'** की श्रंखला प्रारम्भ हो गई। उसके बाद जो कुछ भी हुआ, सब **'असद्'** ही हुआ। देह, सम्बन्ध, धर्म-कर्म, नाम-रूप, खोना-पाना, मान-अपमान, उन्नति-अवनति, कर्मण्यता-अकर्मण्यता, सत्य-असत्य, कथनी-करनी, प्रतिभाएँ, प्रार्थनाएँ, घोषणाएँ, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख, प्रसन्नता-विषाद, आसक्ति-अतृप्ति, सन्तुष्टि-असन्तुष्टि, राग-सौहार्द्र और सब कुछ तथा कुछ नहीं भी, सभी कुछ **'असद्'**, हो गया। जब देह **'असद्'** हो गई, तो देह की अवचेतना पर आधारित सब कुछ **'असद्'** हो गया। मैं महाभारत से उदाहरण दूँगा। एक ओर अर्जुन प्रतिज्ञा करता है, कि मैं गाण्डीवधारी अर्जुन प्रतिज्ञा करता हूँ, कि कल सूर्यास्त से पहले जयद्रथ का वध कर दूँगा, नहीं तो स्वयं आत्मदाह कर लूँगा। दूसरी ओर श्रीकृष्ण ने प्रतिज्ञा की, कि मैं महाभारत के युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊँगा। अर्जुन का यह कहना, कि **'मैं'** अर्जुन हूँ, **'असद्'** है। अतः उसकी प्रतिज्ञा **'असद्'** है। सूर्य का छिपना व उदय होना भी **'असद्'**, है। श्रीकृष्ण स्वयं में **'सद्'** हैं। सच्चिदानंद परमात्मा हैं। उनकी शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा **सद्'** है। कालान्तर में भीष्म पितामह ने

जब श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा तोड़ने के लिए पाण्डव सेना का संहार प्रारम्भ कर दिया, तो श्रीकृष्ण का अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर सुदर्शन चक्र उठा लेना भी **'सद्'**, है। श्रीकृष्ण का प्रतिज्ञा करना और प्रतिज्ञा तोड़ना दोनों समष्टिहित की भावना से प्रेरित हैं और अर्जुन व भीष्म का प्रतिज्ञा करना व्यष्टि अहं की पूर्ति का द्योतक है। **'सद्'** जो करेगा और जो उसके लिए होगा, सब कुछ **'सद्'** ही होगा।

हम 'सद्' का अवलम्बन लेकर 'असद्' में विचरते हुए अधोगति में जा रहे हैं। तो 'असद्' का अवलम्बन लेकर 'सद्' की ओर ऊर्ध्वगमन क्यों नहीं कर सकते? मैं अमुक-अमुक प्रतिज्ञा करता हूँ, कि रोज़ दो घण्टे नाम-जाप करूँगा। यहाँ **'मैं'** अमुक-अमुक हूँ, **'असद्'** है, **'काल'** भी **'असद्'**, है, लेकिन जाप **'सद्'** है। जब सद्गुरु अपने सद्शिष्य को कुछ पुरुषार्थ कर्म करने का आदेश देता है, तो वह **'असद्'** से **'सद्'** की ओर प्रेरित करता है। हमारी देह **'असद्'** है, उसका समय **'असद्'** है। उसी से हम सद्गुरु-कृपा से ईश्वर का नाम-जाप, भजन, यज्ञ, हवन आदि करते हैं, तो जिस काल में ये कर्म होते हैं, वह काल **सद्** हो जाता है। **'असद्'** से **'सद्'** की ओर बढ़ने में **'असद्'** का **'सद्'** में रूपान्तरण होने लगता है। दिन के 24 घण्टे में यदि हमने आधा घण्टा समय भी **'सद्'** की ओर प्रयाण में कुछ पुरुषार्थ कर्म करते हुए व्यतीत किया, तो दिन के शेष साढ़े तेईस **'असद्'** घण्टों में **'सद्'** का पदार्पण हो जाता है। जिस प्रकार थोड़े से दही का जामन, सारे दूध का दही में रूपान्तरण कर देता है, उसी प्रकार **'सद्'**, के आधे घण्टे का समय शेष दिन के साढ़े तेईस **'असद्'** घण्टों को स्वतः धीरे-धीरे **'सद्'** में रूपान्तरित कर देता है। एक बार दूध के दही में रूपान्तरण के बाद वह पुनः दूध में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार **सद्** पुनः **'असद्'** में नहीं बदल सकता। यदि हमारा मन पूर्णतः उस प्रकरण में एकाग्र हो जाए, तो उस काल में हमें आनन्द आएगा। उससे हमारा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप जाग्रत हो जाएगा। धीरे-धीरे साढ़े तेईस घण्टे अन्य कार्यों में हमें समय की बरबादी लगने लगेंगे। **'सद्'** के लिए व्यतीत

किया जाने वाला समय इष्ट-कृपा से स्वतः बढ़ने लगेगा। **'असद्'** (नाम-रूप की देह) से **'असद्' (काल) को** लगाया गया **'सद्'** (नाम-जाप, ध्यान आदि) का जामन इस प्रकार अपना प्रभाव दिखाएगा और एक समय ऐसा आएगा, कि अपने इष्ट व सद्गुरु की चर्चा, भजन, कीर्तन, सत्संग के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में हमारी रुचि नहीं रह जाएगी। इस प्रकार हमारा **'असद्'** धीरे-धीरे **'सद्'** में रूपान्तरित हो जाएगा। मैं अमुक-अमुक हूँ, इस देह भाव में जब हम ईश्वर का नाम-जाप करते हैं, तो हमारा वह नाम-रूप भी **'सद्'** होने लगता है। **'असद्'** देह में भी जब **'मैं'** (जीवात्मा) ईश्वर की लीला के आनन्द में विचरण करूँगा, तो उसी नाम-रूप में होते हुए भी **'असद्' से 'सद्'** हो जाऊँगा। **सद्** की निमिष मात्र की झलक **'असद्'** के भण्डार को निगल जाती है:—

''तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला एक अंग,
तूल न ताहि सकल मिली जो सुख लव सत्संग।''

असद् का असीम सुख भी एक निमिष मात्र के सद् व सत्संग के आनन्द के समकक्ष नहीं हो सकता। **'असद्'** नश्वर है, लेकिन नश्वर व **'असद्'** का भी **'सद्'** से सम्बन्ध तो है ही। यह जीवन के लिए सकारात्मक दृष्टि होगी। नश्वर को नश्वर और **'असद्'** को **'असद्'** कहते रहना उसकी नश्वरता व **'असद्'** की पुष्टि करना ही है। हम यह मान लें, कि हमारा जो कुछ भी **'असद्'** है, वह **सद्** के कारण है। **'मैं'** (जीवात्मा) देह रूप में **सद्** न होते हुए भी **'सद्'** (ईश्वर) का अंश हूँ और उसका इकलौता मानस-पुत्र हूँ। **मैं** देह के रूप में **'सद्'** नहीं हूँ, यह भी मैं एक नाम-रूप की देह की अवचेतना में जान पाता हूँ, क्योंकि देह की अवचेतना के बिना मेरा (जीवात्मा) प्रकाट्य नहीं होता।

जैसे ही मैं निद्रा से जागता हूँ, मैं अपनी नाम-रूप की देह की अवचेतना में आ जाता हूँ। इसी अवचेतना की नींव पर मेरे जगत का भवन खड़ा होता है। मुझे सुषुप्ति में अपनी देह की अवचेतना नहीं होती, लेकिन अपने **'सद्'** स्वरूप की चेतना भी नहीं होती। उस समय मैं निराकार और

अकाल होता हूँ। **जागृति में यदि मेरी वह अवस्था बन जाए, कि मैं जाग्रत हूँ और मुझे अपनी देह की अवचेतना न हो, इस अवस्था को तुरिया समाधि कहते हैं।** योगी तुरिया समाधि में शिलावत तथाकथित देह में ऐसे ही होता है, जैसेकि सोया हुआ व्यक्ति देह में दृष्टिगत होता है। योगी सुषुप्त नहीं होता, बल्कि अपनी चैतन्यमय आनन्द की स्थिति में होता है। वह जिस काल में विचरता है, वह अकाल-काल होता है। वह नाम-रूप की अवचेतन देह में होते हुए भी अपने **सद्** स्वरूप की चेतना में होता है। यह ही वास्तविक जागृति है।

जब अपने सद्स्वरूप की चेतना होती है, तब देह की अवचेतना नहीं होती और जब देह की अवचेतना होती है, तब अपने सद् स्वरूप की चेतना नहीं होती। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं। जो सद्गुरु अथवा इष्ट की शरण में चला गया, उसका देहाध्यास धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगा। उसका अपना नाम-रूप, इष्ट के नाम-रूप में समाहित हो जाएगा। पूर्णतः शरणागत होने का अर्थ यही है, कि हम अपना सब कुछ श्रद्धावश समर्पित कर दें।

इस प्रकार मानव-जीवन में हमारा एकमात्र कर्म यही है, कि हम अपने मात्रात्मक जीवन की प्रत्येक विधा को एकमात्र अपने सद्गुरु व इष्ट के चरणों में समर्पित कर दें। गीता का एक ही श्लोक यदि हृदयंगम हो जाए, तो जीवन सार्थक हो जाता है:—

''सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।''

श्रीकृष्ण की शरण में आकर हम अपना पद-प्रतिष्ठा, धन-सम्पदा, नाम-यश सब भूल जाएँ। जो इसके अतिरिक्त शरणागत होते हैं, उनका शरण में आना नहीं होता। जब सिर झुका दिया, तब फिर अपना सिर न रहे, जो सिर उठे वह सद्गुरु का सिर हो, हमारा न हो। उसे समर्पण कहा है। इसके बाद हमें मात्र यही सोचना है, कि हमसे कोई सुचवा रहा है। यही वह मोड़ है, जहाँ आध्यात्मिक रूपान्तरण होता है। हमारा समस्त **'असद्'** तुरन्त

'सद्' में रूपान्तरित होना प्रारम्भ हो जाता है। तब वही नाम-रूप की देह यथार्थ **सद्** देह हो जाएगी।

सर्वप्रथम हम तहे-दिल से आश्वस्त हो जाएँ, कि देह के रूप में मेरी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। तब ही देह का समर्पण होगा। मुझे इतनी उत्कृष्टतम देह फिर क्यों दी गई है, मैं नहीं जानता। **इसके बाद हम जो भी करेंगे, वह हमारे द्वारा हुआ सा होगा और हम अनुभूति कर लेंगे, कि मैं कुछ नहीं कर रहा।** सब कुछ ईश्वर-इच्छा में मेरे द्वारा हो रहा है। जो मेरे द्वारा हो रहा है, वह ईश्वर किसी के द्वारा भी करवा सकता है। अर्थात् निमित्तता का भाव भी समाप्त हो जाए। जिनके द्वारा होता है, वे स्वयं कुछ नहीं करते। लोगों को ऐसा प्रतीत होता है, जैसेकि वे कर रहे हों, लेकिन सब कुछ उनके द्वारा करवाया जाता है। उनके लिए सब कुछ **हुआ-हुआ सा** ही होता है। जो उनके द्वारा होता है, लोग उनका अनुसरण करते हैं। उसी देह में वे असीम हो जाते हैं। वह **'सद्'** देह जन्म-मृत्यु से परे हो जाती है। जन्म और मृत्यु दोनों हमारी थोपी हुई मिथ्या धारणाएँ हैं, क्योंकि किसी स्वप्न में भी हमने **स्वयं को** जन्मते-मरते नहीं देखा है और न देख सकते हैं। **'सद्'** देह जनमेजय और मृत्युंजय होती है। वह हर्ष-उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता, मस्ती, भक्ति, साहस, कृपा व आनन्द का सागर होगी।

समर्पित देह ही भक्ति का मूल है। **जो समर्पण का समर्पण कर दे, वही भक्ति को प्राप्त कर सकता है।** हम मात्र दृष्टा बनकर उसका आनन्द लेते हैं। जैसे ही हम सद् में आएंगे, हमारा तमस् स्वतः ही दूर हो जाएगा। हम मृत्यु से अमरत्व में आ जाएँगे। जब तक हमारी देह **'सद्'** नहीं होगी, तब तक हम देह और जगत का आनन्द ले ही नहीं सकते। हम **'सद्'** की अनुभूति के बिना ही जन्म-मृत्यु के बीच बँधे जीवन व देह को घसीट रहे हैं।

जहाँ तक हम **'असद्'** में लिप्त हैं, वहाँ तक जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होगी। जिज्ञासु भौतिक उपलब्धियों और प्राप्तियों से चिन्तित हो जाता है, कि कहीं ये प्राप्तियाँ उसके **'सद्'** चिन्तन में बाधा न बन जाएँ। यदि कोई वस्तु, प्राणी, व्यक्ति उसके दिल-दिमाग में घूमने लगा, तो वही लिप्तता है।

ब्रह्मचिन्तक संसार में रहता है, संसार उसमें नहीं रहता। आत्म- विश्लेषण आवश्यक है। हमारे दिल-दिमाग में सद्गुरु अथवा इष्ट का सद्निर्देशन आवश्यक है। सद्गुरु व इष्ट की साकार-उपासना से देहाध्यास अथवा जीव-भाव का रूपान्तरण हो जाता है। इष्ट-कृपा से हमारा मन भगवान की लीलाओं में रम जाता है, तो भौतिक सांसारिक लिप्तताएँ स्वतः छूट जाती हैं। खाली समय में हमारे दिल-दिमाग में जब भगवान की लीला या कथाएँ घूमती हैं, तो हमारी वही देह दिव्य हो जाती है। इष्ट से प्रेम बढ़ता है।

मानव की **बुद्धि** ईश्वरीय **चेतना** की प्रतिनिधि है और ईश्वरीय **आनन्द** का प्रतीक **मन** है। जितने भी हम निर्णय लेते हैं, वे इन दोनों के सामंजस्य से लेते हैं। उसके बाद हमारी क्रियाएँ स्वतः होती हैं। ईश्वर सच्चिदानंद है। उसका प्रत्येक निर्माण, पालन व संहार आनन्द में होता है। ईश्वर कभी क्रोधित नहीं होता, कि वहाँ भूकम्प आ गया या समुद्र में सुनामी आ गई, तो ईश्वर क्रोधित हो गया ! यह सब उसकी क्रीड़ा के विविध प्रारूप हैं। जीवन और जन्म यदि आनन्द में हैं, तो मृत्यु भी आनन्द में होती है। जो स्वतः हुआ है, वह चेतन व आनन्द के समन्वय से हुआ है। **जिसमें हमारी अपनी बुद्धि का कोई हस्तक्षेप नहीं होता, उसमें हमारा हित ही हित होता है। यह पृथक् बात है, कि हममें हित को पहचानने की क्षमता नहीं होती।** हम उसमें अपनी बुद्धि से ही उलझ जाते हैं। चेतन बुद्धि और आनन्दमय मन के समन्वय से लिए गए निर्णय **सद्** होते हैं।

हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ वही करेंगी, जो हमारा मन चाहेगा। हमारा मन यदि प्रदूषित, भयभीत, त्रसित, तनावित है, तो हम हर बात का उलटा अर्थ ही निकालेंगे। हम मन से हर दृश्य का अधिग्रहण करते हैं। हमारा मन चखता, सूँघता, सुनता, देखता और स्पर्श करता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तो निमित्त मात्र हैं। मन आनन्दमय है और बुद्धि चेतनायुक्त है, तो हर प्रस्तुति **'सद्'** होगी। **'सद्'** स्वयं, स्वतः और स्वान्तः सुखाय होता है। वह सबके सुख व हित के लिए होगा ही। सच्चिदानंद पर कोई कानून लागू नहीं होता। वह मर्यादातीत, देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, धर्मातीत,

कर्मातीत, लिंगातीत, मायातीत है। मानव-देह उसकी सबसे विलक्षण व चमत्कारिक संरचना है। मन प्राकृतिक रूप से आनन्द था और बुद्धि चेतन थी। ईश्वर स्रष्टा है। **'मैं'** (जीवात्मा) मात्र दृष्टा है। **यह वही देखता है, जो ईश्वर दिखाता है।** स्रष्टा सच्चिदानंद है और दृष्टा सच्चिदानंद है। एक आनन्द में सृष्टि का निर्माण दिखा रहा है और एक आनन्द में देख रहा है। एक ही बात के लोग विभिन्न अर्थ नहीं निकालेंगे, तो कहानी आगे कैसे चलेगी? आलोचना, प्रत्यालोचना, प्रशंसा, मार-काट, लड़ाई-झगड़े आदि के बिना सृष्टि की कहानी में वैविध्य कैसे आएगा? यह सृष्टि परिपूरक विधाओं के रूप में प्रकट होती है। यहाँ सब कुछ स्वतः हो रहा है। जहाँ जीवात्मा ने स्वयं को देह के नाम-रूप से पहचाना, तो उसे अपने कर्ता होने का भ्रम हो गया और जीव-सृष्टि में आकर उसके लिए सब कुछ **'असद्'** हो गया। जो हम सोचते हैं, कि हम **कर रहे हैं,** वास्तव में वह कर्म हमारे द्वारा **हो रहा है** और जो हो रहा है **'वह हो चुका है'**। यही कर्म का **'सद्'** है, जो अनुभूतिगम्य एवं कृपा-साध्य है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(25 अगस्त से 16अक्टूबर, 2006)

चिन्ता-चिन्तन

जहाँ देह-चिन्ता समाप्त हो जाती है, वहाँ से देह-चिन्तन में प्रविष्टि होती है। **देह-चिन्तन के साथ-साथ ही आत्म-चिन्तन द्वारा अध्यात्म का द्वार खुल जाता है।** चिन्ता और चिन्तन में अन्तर है। चिन्ता हमारे तन्त्रिका-तन्त्र को तनावित करती है और जीवित व्यक्ति को घुन की तरह खोखला करती रहती है। **देह-चिन्तन में भी विचार होते हैं, देह व उस पर आधारित जगत सम्बन्धी भाव होते हैं, लेकिन वे जीव-भाव से धीरे-धीरे मुक्त करते हुए आत्म-चिन्तन के सोपान पर ले जाते हैं।** जब देह की चिन्ताएँ समाप्त होती हैं, उसके बाद देह पर चिन्तन होता है। दोनों में अति महत्त्वपूर्ण अन्तर है।

चिन्ताएँ तब होती हैं, जब हमारे लिए देह ही प्रधान होती है—धन, डिग्रियाँ, कारोबार, सन्तान, प्रौपर्टी, सम्बन्ध, नाम-यश, जन-बल आदि विभिन्न शक्तियों की प्राप्ति हमारा लक्ष्य होता है। ये समस्याएँ व चिन्ताएँ हमें वस्तुओं व पदार्थों के कारण नहीं होती, बल्कि उनके साथ हमारी लिप्तताओं के कारण होती हैं। **हमारा दैहिक संसार हमारी लिप्तताओं और हमारे उससे जुड़ाव के कारण ही चिन्ता का विषय बना रहता है।** जन्मों-जन्मान्तरों तक यही चिन्ताएँ खोखला करती रहती हैं। देह भी प्रभु की कृति है, इसलिए उसके अपने गुण, धर्म व सद् हैं। देह के **'सद्'** को पाने के लिए **'देह-चिन्तन'** होता है। प्रभु ने मुझे मानव-देह क्यों दी है? मैं क्या कर रहा हूँ, क्यों और कब तक करूँगा, जीवन से मैं क्या चाहता हूँ? आदि-आदि। भौतिक देह की चिन्ताएँ जब समाप्त हो जाती हैं, तब इस

प्रकार चिन्तन चलता है। देह की चिन्ताओं का मूल देह के साथ तद्रूपता है, कि मैं देह हूँ। चिन्ताओं का कारण हमारा तुच्छ अहंकार व ममकार है। **देह का अहं और ममत्व समाप्त करने के लिए ईश्वर के भजन व जाप का बहुत महत्त्व है।**

जब यह जिज्ञासा मन और रूह को बेचैन कर दे, कि मैं मानव-देह लेकर पैदा क्यों हुआ हूँ? यह देह की चिन्ता नहीं है, बल्कि यह देह के विषय में चिन्तन है। देह पैदा हुई है और मरेगी। मुझे दी गई है और कभी भी छीन ली जाएगी। इस देह के पैदा होने से पहले भी संसार चल रहा था और मरने के बाद भी चलता रहेगा। अतः देह मुझे क्यों दी गई है? यह **सद् जिज्ञासा है। जिज्ञासा तभी उत्पन्न होती है जब देह की चिन्ता समाप्त हो जाती है।** देह-चिन्तन में तनाव नहीं होता। **देह-चिन्तन हमारी अपनी बुद्धि की सीमाओं से परे का विषय है। इसके लिए समर्पण आवश्यक है। 'समर्पण का समर्पण'** तब होगा, जब हम अपनी बुद्धि से स्वयं को अक्षम जान लें और मन से मान लें, कि मानव-देह का अर्थ न मैं जानता हूँ और न जान सकता हूँ। बिना समर्पण के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती। जब श्रद्धा पैदा होगी, तो अहंकार और ममकार समाप्त होने लगेगा।

मैं पैदा क्यों हुआ हूँ? यह देह-चिन्तन ही अध्यात्म के द्वार की कुंजी है। पहले देह **में** देह **की** चिन्ता थी, फिर देह **से** देह-चिन्तन आरम्भ हुआ। देह ही आत्म-चिन्तन में ले जाएगी। इसके बाद न बात **देह में** होगी न **देह की** होगी और वह **आत्म-चिन्तन** हो जाएगा। पहले देह **साधना** थी, अब देह **साधन** बन जाएगी। **देह-चिन्तन से देह हमारी अपनी होनी प्रारम्भ हो जाएगी। यही देह आत्म-चिन्तन में ले जाएगी।** ये सोपान हैं। मानव-देह मुझे क्यों मिली है, इस प्रकार जब चिन्तन होने लगता है और जिज्ञासाएँ उठती हैं, वहाँ देह और जीवात्मा पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। 'मैं' 'जीवात्मा' अलग है और 'देह' अलग है। वहाँ से देह **सद्** होने लगती है और जीवात्मा के लिए **साधन** बन जाती है। **देह ही जीवात्मा** को जीवन व देह सहित जगत के **सद्** से अवगत कराती है, कि **'तू'**(जीवात्मा) **शाश्वत्** है, **'मैं'** (देह)

नश्वर हूँ। **'तू' निराकार** व **अदृश्य** है, **'मैं' साकार** व **दृश्यमान** हूँ। **'मैं' पृथ्वी** की वस्तु हूँ, **'तू' आसमान** का है। **'मैं**' पल-पल **परिवर्तित** होती हूँ, **'तू' अपरिवर्तनीय** है। **'मैं' सीमित** हूँ, **'तू' असीम** है। **'मैं' असीम** द्वारा **निर्मित** हूँ, **'मैं' व्यष्टि** हूँ, **'तू' असीम** का अंश है और **समष्टि** है। **मैं पल-पल परिवर्तनशील हूँ, क्योंकि मैं काल से बँधी हूँ।** जो काल से बँधा है, वह परिवर्तनशील ही होगा और जो अकाल से बँधा है, वह अपरिवर्तनीय होगा। काल में कोई क्षण, किसी क्षण से बँधा नहीं है, यह बहता पानी है। संसार में कुछ भी स्थिर एवं अपरिवर्तनीय नहीं है। देह और जगत हर क्षण परिवर्तित होता है, यही इस **असद्** देह व जगत का **'सद्'** है। यह **'सद्'** सद्गुरु-कृपा से पल्ले पड़ जाए तो हर परिवर्तन **'सदासद्'** (सद्+असद) हो जाएगा।

देह के अपने चार **सद्** हैं। हमारा **साधन 'सद्'** नहीं होगा, तो **'सिद्धि'** नहीं मिलेगी। हमारा **निर्देशक 'सद्गुरु'** हो और हममें **'श्रद्धा की शक्ति'** हो, तभी **सिद्धि** की प्राप्ति की सम्भावना है। **'साधक'** जीवात्मा है। जब देह में, देह के लिए चिन्ता होती है, तो जीवात्मा और देह की तद्रूपता होती है। जब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि **मैं** पैदा क्यों हुआ? मुझे मानव-देह क्यों मिली, तब देह-चिन्तन होता है, कि देह में, **'मैं**' (जीवात्मा) कुछ भी पा लूँ, यह नश्वर है, यह अवश्य जाएगी। कुछ भी पाकर मैं देह में सीमित ही रहूँगा। यह हर क्षण परिवर्तनशील है, मैं इसका सदुपयोग कैसे करूँ? यह देह व्यष्टि है। इससे तद्रूप होकर मैं व्यष्टि का व्यष्टि ही रहूँगा, **'मैं'** अपना **'समष्टिगत जीवात्मा स्वरूप'** खो बैठूँगा।

'मैं' (जीवात्मा) देह की नश्वरता व परिवर्तनशीलता से अपने शाश्वत् व अपरिवर्तनीय स्वरूप की अनुभूति कर लूँ। देह के साथ मेरे ममत्व का आधार देह के नाम-रूप की अवचेतना है। **देह-चिन्तन होने पर देह बताती है, कि मैं अस्थाई, नश्वर, परिवर्तनशील, सीमित, व्यष्टि हूँ। तू स्वयं को मेरे नाम-रूप से पहचान रहा है। मेरे से कुछ पाना चाहता है, तो मेरे इस नाम-रूप को ईश्वर के नाम-रूप के साथ सम्पृक्त कर दे। तू भी उसका**

है, मैं भी उसकी हूँ। ईश्वर का नाम-रूप अमर है, शाश्वत् है, अपरिवर्तनीय है, अकाल है, स्थिर है, असीम है। **जब साधक (जीवात्मा) देह को ईश्वर के नाम-रूप के साथ जोड़ देता है, तब आत्म-चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है।** परम सद्गुरु-कृपा से ईश्वर से जुड़ कर देह **'सद्'** हो जाती है। फिर देह में भी कुछ **असद्** नहीं रहता। देह को जब तक ईश्वर से नहीं जोड़ेंगे, तब तक जीवात्मा को अपने स्वरूप की अनुभूति नहीं होगी। देह असद् नहीं है, इसका सदुपयोग करते हुए पूर्ण लाभ लेने के लिए इसे सद् (ईश्वर) के नाम-रूप से जोड़ना होगा।

नश्वर को शाश्वत्, सीमित को असीम, परिवर्तनीय को अपरिवर्तनीय नाम-रूप से बाँधने के लिए ही मुझे (जीवात्मा को) मानव-देह मिली है। **आपने देह-चिन्तन किया और देह आपको आत्म-चिन्तन कराएगी। फिर आप अमर हो जाएँगे और सद् से जुड़ कर 'असद्' देह सदासद् (सद्+असद्) हो जाएगी।** जब तक जीवात्मा ने देह पर अधिपत्य किया हुआ था, तब तक देह असद् थी, फिर उसे ईश्वर (सद्) के नाम-रूप के साथ जोड़ा, तो वही देह अपरिवर्तनीय, कालातीत, अवस्थातीत, अजर-अमर और शाश्वत् हो जाती है। वह निराकार भगवद् सत्ता जो ब्रह्माण्डातीत व ठोस-घन-शिला और सच्चिदानंद है, जब ब्रह्माण्ड में अवतरित होती है, तो छः भगों—सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति एवं वैराग के साथ होती है। इसीलिए उसे **'भगवान'** कहते हैं।

ईश्वर के उपर्युक्त गुण या भगवत्ताएँ उसके एक गुण **वैराग** से प्रस्फुटित हुए हैं। पंच-प्राण—**प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान** अदृश्य हैं, जो क्रमशः **अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल एवं आकाश** इन पंच-महाभूतों के रूप में दृश्यमान होते हैं। ये पंच-महाभूत क्रमशः ईश्वर के **शक्ति, ख्याति, ऐश्वर्य, सौन्दर्य एवं ज्ञान** गुणों के प्रतीक हैं। लेकिन जो ईश्वर का छटा गुण **'वैराग'** है, वह विभूत्यातीत विभूति है। वह इन पंच-महाभूतों में अदृश्य भस्मी के रूप में कण-कण में समाहित रहता है। यह **विरक्ति** या **'भस्मी'** शिव का संघनित रूप है। वैराग शिव की अतिशक्ति है

और पंच-प्राणों की शक्ति, महाशक्ति है। शिव की अतिशक्ति वैराग से ही पंच-प्राणों की महाशक्ति का पुंज प्रकट होता है, **जिसे शिव-शक्ति-क्रीड़ा कहते हैं।** शिव की महाशक्ति उसके वैराग की अति शक्ति में समाहित ही है, उससे विलग नहीं है। जैसेकि **'शिव'** में छोटी 'इ' की मात्रा उसके साथ ही है। यदि छोटी 'इ' की मात्रा हटा दी जाए, तो **'शिव'** का **'शव'** हो जाएगा और **शिव कभी भी शव नहीं हो सकता।** शिव-शक्ति-क्रीड़ा में शिव की अतिशक्ति ही पंच-प्राणों की महाशक्ति के रूप में प्रकट होती है। शिव-शक्ति-क्रीड़ा, अदृश्य एवं ब्रह्माण्डातीत है। इसके एवज में ये पंच-प्राण, पंच-महाभूतों के रूप में ब्रह्माण्ड में दृश्यमान हो जाते हैं तथा शिव की अतिशक्ति **'वैराग' अदृश्य भस्मी** के रूप में इन पंच-महाभूतों के कण-कण में समाहित हो जाता है।

शिव-शक्ति-क्रीड़ा के इस परम रहस्य को आत्मसात् करना बहुत आवश्यक है, नहीं तो इस मायिक संसार में भटकन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सुख-दुःख, जन्म-मरण, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, उन्नति-अवनति, लाभ-हानि, मिलन-विछोह, लेना-देना, यश-अपयश—संसार रूपी काल-चक्र में एक दूसरे के विपरीत बिन्दु हैं, जिनमें युगों-युगान्तरों से यह मायिक संसार घूमता हुआ आभासित हो रहा है। इसी काल-चक्र में **जीवात्मा** नाम-रूप की देह को अपना स्वरूप मानकर **जीव** बना हुआ भटक रहा है। सच-झूठ, झूठ-सच दोनों परिवर्तनीय हैं। इनका सद् यह है, कि दोनों **'असद्'** एवं सापेक्षिक हैं। जो आज सच है, कल झूठ था और भविष्य में झूठ हो जाने की सम्भावना है। हमारी समस्त भाग-दौड़ सच-झूठ के बीच **'असद्'** में ही है। इसी को हम **कर्मठता** कहते हैं, कि अब मैं अफसर बन गया हूँ। यह तो सोच ! कब तक बना रहेगा। एक दिन रिटायर होगा , तब यह अफसरी झूठ हो जाएगी।

काल-चक्र की परिधि घड़ी के बिन्दुओं के समान है, इसकी परिधि में आगे बढ़ने का कुछ अर्थ ही नहीं है। कोई तीन बजे के अंक से आगे बढ़ता हुआ नौ, दस, ग्यारह, बारह तक भी पहुँच जाए, तो और-और आगे बढ़ने में

वह तीन से पुनः एक पर आ जाता है। संसार में यही हमारा तथाकथित आगे बढ़ना है। हम इस आगे बढ़ने में क्या चाहते हैं? यह न जानते हैं और न ही जानना चाहते हैं। **हर बढ़ोतरी और घटोतरी, दोनों की एक सीमा है।** क्योंकि हमारी देह एवं शारीरिक और बौद्धिक दोनों शक्तियाँ सीमित हैं। इन सीमित शक्तियों से हम सीमाओं में ही आगे बढ़ रहे हैं और सीमाओं में ही अवनति को प्राप्त हो रहे हैं।

काल-चक्र में भटकन इसलिए है, क्योंकि परिधि के हर बिन्दु को वास्तव में उस एक केन्द्र-बिन्दु की तलाश है, जो परम स्थिर है। सभी को तलाश **केन्द्र** की है, लेकिन उन्हें इसका ज्ञान नहीं है। इसलिए काल-चक्र की परिधि में धक्के खा रहे हैं। आगे बढ़ना और पीछे हटना ही धक्के खाना है। **केन्द्र भी एक बिन्दु है और सम्पूर्ण काल-चक्र भी असंख्य बिन्दुओं का समूह है।** तो हर बिन्दु विभिन्न बिन्दुओं के समूह में घूम रहा है और वह नहीं जानता, कि उसे कौन से बिन्दु की तलाश है। अज्ञात रूप से हर बिन्दु **'केन्द्र-बिन्दु'** बनना चाहता है और उस केन्द्र-बिन्दु को वह काल-चक्र की परिधि के असंख्य बिन्दुओं में खोज रहा है, इसीलिए युगों-युगान्तरों से भटक रहा है। **परिधि में केन्द्र-बिन्दु का मिलना असम्भव ही है।** हमारी समस्त मर्यादाएँ, अमर्यादाएँ, गतियाँ, योजनाएँ, परियोजनाएँ तथा हमारा सब कुछ वास्तव में उस केन्द्र-बिन्दु की खोज के लिए है। हम सभी स्थिरता, शान्ति व आनन्द चाहते हैं।

परिधि के असंख्य बिन्दुओं में प्रत्येक बिन्दु, केन्द्र-बिन्दु से बिल्कुल एक समान दूरी पर है। परिधि के किसी भी बिन्दु को केन्द्र-बिन्दु से मिला दिया जाए, तो वह अर्ध-व्यास बन जाता है। व्यास का अर्थ **सद्‌गुरु** भी है। **'मैं'** केन्द्र से मिल गया हूँ, इतना भाव आते ही जीवात्मा कम से कम जीव नहीं रहता। **'व्यास' उस सरल रेखा को कहते हैं, जो किसी चक्र की परिधि के दो विपरीत बिन्दुओं को मिलाती है और केन्द्र-बिन्दु से होकर गुज़रती है। 'अर्ध-व्यास' परिधि के किसी भी बिन्दु को केन्द्र-बिन्दु से मिलाने वाली सरल रेखा है।**

ज्योमेट्री का यही नियम काल-चक्र पर भी लागू होता है। काल-चक्र की परिधि का कोई भी **बिन्दु** जब भाव से **'केन्द्र-बिन्दु'** से जुड़ जाता है, तो वह अर्धव्यास बन जाता है और आगे बढ़कर परिधि के विपरीत बिन्दु को छू ले, तो वह व्यास बन जाता है। व्यास के तीन बिन्दु हैं—परिधि में ठीक विपरीत दो बिन्दु और तीसरा है, केन्द्र-बिन्दु। **व्यास की महानता परिधि के दो विपरीत बिन्दुओं के केन्द्र-बिन्दु से मिलने से है।** सुख-दुःख, मान-अपमान, उन्नति-अवनति, लाभ-हानि में जो एक साथ सम रहता है, **वह व्यास (सद्‌गुरु) है।** उसका अनुसरण हम कर ही नहीं सकते। उसकी मर्यादा और अमर्यादा दोनों वन्दनीय हैं। श्रीकृष्ण, श्रीराम, भगवान शंकर, जगद्‌गुरु हैं, जो वन्दनीय और पूजनीय हैं। इनके विचारों, लीलाओं, कृत्यों आदि सबको मात्र प्रणाम करना चाहिए। **जब तक गुरु स्वयं अपने श्रीचरणों में जोड़ेंगे नहीं, तब तक कुछ पल्ले नहीं पड़ेगा। जब तक वे स्वयं दिव्य-दृष्टि नहीं देंगे, तब तक हम उनका दर्शन नहीं कर सकते।**

हम जन्मों-जन्मान्तरों से काल-चक्र की परिधि में ही भटक रहे हैं। यहाँ आगे बढ़ना और पीछे हटना, उन्नति-अवनति, मान-अपमान, लाभ-हानि, यश-अपयश दोनों समान हैं। क्योंकि आगे बढ़ते-बढ़ते ही पीछे हट रहे हैं। कभी विशेष इष्ट-कृपा से हमें ज्ञान हो जाए, कि हम भटक रहे हैं। परिधि के किसी भी बिन्दु को जब भटकन का आभास हो जाता है, तो वह रुक जाता है। **वह बिन्दु जो सतत् निरन्तर अबाध गति से परिधि में आगे बढ़ रहा है, जब रुक जाता है, तो यकायक रुकने में वह धीरे-धीरे केन्द्र-बिन्दु की स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। गुरुत्व का मुख्य गुण स्थिरता है।** उस एक बिन्दु के रुकने से सारा काल-चक्र छः टुकड़ों में विभक्त हो जाएगा। वह बिन्दु पृथक् होकर **ॐ** का बिन्दु बन जाएगा। काल-चक्र की शेष परिधि, पाँच गोलाइयों के रूप में टूटकर शेष ओंकार (   ) का रूप ले लेंगी। यह एक बिन्दु वैराग है और यह विरक्ति ही शेष पाँच भगवत्ताओं का मूल है। यह बिन्दु **ॐ** का अस्तित्व है। यदि यह एक बिन्दु स्थिर न हुआ होता, तो **'काल-चक्र'** ओंकार न बनता। **काल-चक्र की छः टुकड़ों में विभक्ति एक**

बिन्दु की विरक्ति से हुई। यह छः टुकड़ों की विभक्ति ईश्वर के छः गुणों की प्रतीक है, यह विभक्ति **सी** है। क्योंकि छः गुण एक ईश्वर के हैं। बिन्दु सहित छः टुकड़े एक **ॐ** के हैं। जीवन का वह पल, वह निमिष जहाँ जीवन स्थिर हो जाए, वह महत्त्वपूर्ण है। **यह एक निमिष युगों-युगान्तरों के काल-चक्र को भी सार्थक कर देता है।** वहीं से सारा जीवन ओंकारमय हो जाता है। जीवात्मा को परमात्मा के साथ अद्वैत की अनुभूति हो जाती है :–

''ॐ बिन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ऊंकाराय नमो नमः।''

योगी **'अर्थ'** के नीचे के तीनों (निरर्थ, व्यर्थ, अनर्थ) सोपान ही नहीं अर्थ के ऊपर धर्म को भी हटा कर केवल ईश्वर की कामना (भक्ति) और मोक्ष (अनुराग) के लिए ॐ का ध्यान करते हैं। यह ओ+म=(ॐ) परमात्मा और जीवात्मा का मिलन है:–

''जो 'तू' है वो 'मैं' हूँ
'तू' है तो 'मैं' हूँ
'तू' 'तू' है 'मैं' 'मैं' हूँ

ॐ = ओ (परमात्मा) + मैं (जीवात्मा) दोनों जब मिलते हैं, तो छः (सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, एंश्वर्य, ख्याति एवं वैराग) गुण प्रकट होते हैं। **ॐ** का बिन्दु ही सब कुछ है। यह वैराग का प्रतीक है। बिन्दु के रूप में **'विरक्ति'** सर्वोपरि है। इसके ठीक नीचे **'अर्धचंद्र'** के रूप में **'ऐश्वर्य**' है। शेष चार गुण **ॐ** की चारों गोलाइयों में समाहित हैं। इसी के लिए हमारी समस्त साधना, दान-पुण्य, यज्ञ-हवन, जप-तप, तीर्थ-यात्रा आदि पुरुषार्थ कर्म, सद्‌गुरु के निर्देश में होते हैं। सद्‌गुरु के साथ हुआ समस्त प्रकरण **'सद्'** होता है। सद्‌गुरु का मौन, उसकी वाणी, उसका स्पर्श, उसका अस्पर्श, उसका देखना, उसका न देखना, सब कुछ **'सद्**' है। उससे जुड़ा सब कुछ (असद् भी) सदासद् होता है।

देह की मर्यादाओं, सम्बन्धों, धन-सम्पदा, लाभ-हानि, सुख-दुःख, गुण-अवगुण, देश-काल, कर्म-कर्तव्य, धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, शक्ति-

अशक्ति आदि की सीमाएँ हैं। इनमें बँधा रह कर असीमितता का स्पर्श सम्भव नहीं है। इस **सीमित एवं असद्** का यह **'सद्'** है, कि हम किसी भी वस्तु को मिथ्या न मानें। क्योंकि **'सद्'** के बिना यहाँ कुछ नहीं है। किसी **'असद्'** का **'सद्'** मात्र **'अ'** से आच्छादित होता है, लुप्त नहीं होता।

यदि हम अध्यात्म जगत में प्रविष्टि के जिज्ञासु हैं, तो किसी भी वस्तु को **'असद्'** न मानें। सच्चिदानंद की समस्त कृति **'सद्'** है। आत्म-चिन्तन **'सद्'** में ही होगा। यह सब कुछ परिवर्तनशील व नश्वर है, तो मैं क्या करूँ? **कुछ नहीं करना, यह सब कुछ हो रहा है।** देह की समस्त चिन्ताएँ **'असद्'** से **'असद्'** में ही भटकती हैं। **इस 'असद्' का सद् पल्ले पड़ जाए, तो देह-चिन्तन प्रारम्भ हो जाएगा एवं चिन्ताएँ समाप्त हो जाएँगी।**

देह-चिन्तन से यह ज्ञान होगा, कि देह परिवर्तनशील है। तो देह की समस्त चिन्ताएँ समाप्त हो जाएँगी। देह में यही चिन्ताएँ तो हमें खाती हैं। कि यह परिवर्तन आ रहा है, क्या करूँ। हर परिवर्तन चिन्ता का विषय बनेगा ही। जहाँ यह भाव आ जाएगा, कि सब कुछ स्वतः हो रहा है, मेरे होश सम्भालने से पहले भी हो रहा था, होश गुम हो जाने के बाद भी होगा तो हम होश के दौरान भी सब कुछ होता हुआ देखेंगे। **चिन्तन-मनन और चिन्ता में बहुत ही स्पष्ट भेद है।** देह व देह पर आधारित जगत में परिवर्तन की चिन्ता होती है। यह सब परिवर्तनशील है, इस सद् को पल्ले डालना ही देह-चिन्तन है। हर परिवर्तन जो हो रहा है, स्वतः हो रहा है और हो के ही रहेगा। यह आत्म-चिन्तन है। **इसकी सिद्धि आत्म-ज्ञान है।**

बात जब तक समझ तक रहती है, यह चिन्तन चलता रहता है। इसकी जब सिद्धि एवं अनुभूति हो जाती है, तो यह आत्म-चिन्तन ही आत्म-ज्ञान जाग्रत कर देता है। मैंने **सिद्धि** की परिभाषा दी थी। जीवन के अन्तिम **'सद्'** की स्वीकृति की पुष्टि, प्रामाणिकता एवं सत्यापन ही **'सिद्धि'** है। अतः यह समस्त प्रकरण केवल और केवल **कृपा-साध्य** है। सद्गुरु ही इसकी पुष्टि, प्रामाणिकता एवं सत्यापन करता है।

'असद्' को उसके **'सद्'** से जोड़ना परम सद्गुरु-कृपा से ही सम्भव है। देह-चिन्तन ही आत्म-चिन्तन बन कर अध्यात्म की असीमता में प्रविष्टि दिला देता है। इसके बाद सब कुछ अनिर्वचनीय हैः—

''तुम वो बात क्यों पूछते हो,
जो बताने के काबिल नहीं है।''

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(27 जनवरी और 4 मार्च, 2007)

उत्तिष्ठ-जाग्रत

(भाग 1)

परमात्मा जो समस्त साकार कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का **स्रष्टा** है, वह निराकार व अदृश्य है तथा **जीवात्मा (मैं)** उसका एक मात्र मानस-पुत्र **दृष्टा** है। दोनों स्वयं में निराकार व अदृश्य हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की यह सृष्टि जिसे हम देख, सुन, सूँघ, चख और स्पर्श कर सकते हैं, वह साकार रूपों में दृश्यमान है। **यह समस्त साकार सृष्टि परमात्मा की माया है और इसी में जीवात्मा को दी गई अति उत्कृष्ट एवं चमत्कारिक मानव-देह भी है। इसी का अवलम्बन लेकर जीवात्मा अपने पिता परमात्मा द्वारा रचाई गई सृष्टि का अधिग्रहण व प्रस्तुतिकरण करता है। यह सृष्टि आभासित है, मात्र इन्द्रजाल है, वास्तव में कुछ नहीं है।** भगवान शंकर उमा से कहते हैं:—

''उमा कहहुँ मैं अनुभव अपना, सद् हरि भजन जगत सब सपना।''

हमें यह सपना भासता नहीं है। मानव-जीवन का वास्तविक मूल्य व सार्थकता यही है, कि यह अनुभूति हो जाए, यह सपना है। हम मानव युगों-युगान्तरों से विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, सुख-दुःख, जन्म-मरण, लेना-देना,जात-पात, धर्म-कर्म, मर्यादाएँ-मान-सम्मान, उन्नति-अवनति, लाभ-हानि, रोग-दोष, भय-त्रास आदि अनेकानेक बन्धनों से मात्र बंधे हुए नहीं हैं, बल्कि इनमें उलझे व जकड़े हुए हैं। हमारे पल्ले तो कुछ पड़ता ही नहीं, बल्कि खो अधिक जाता है। इसका कारण यह है, कि यह सब कुछ सांसारिक मायिक पसारा हमें सपना नहीं लगता। **यदि**

उस स्वप्न के चलते यह आभास हो जाए, कि यह सपना है, तो हम उसी क्षण साकार जगत की समस्त उपर्युक्त विधाओं एवं आधि-व्याधि-उपाधि, मल-विक्षेप व आवरण से मुक्त हो जाएँ। आज आपकी अति श्रद्धा एवं एकाग्रता वांछनीय है। इस विषय का श्रवण-मात्र जन्मों-जन्मान्तरों के रोगों-दोषों से मुक्त कर देता है। यह ब्रह्म-विद्या का अति गहनतम विषय है।

हमारे जीवन में छः अवस्थाएँ ऐसी हैं, जिनमें हम कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते। **गर्भावस्था, शैशवावस्था, मूर्च्छावस्था, निद्रावस्था, मृतकावस्था और भस्मावस्था।** इन छः अवस्थाओं और तथाकथित जाग्रतावस्था में हमारा समस्त जीवन टिका हुआ है। सद्‌गुरु कहता हैः—**उत्तिष्ठ-जाग्रत**, **वास्तविक जागृति तभी होगी, जब जीवात्मा तथाकथित जागृति में उठकर उपर्युक्त छः अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था की अनुभूति कर ले।** इन अवस्थाओं में **'मैं'** (जीवात्मा) देशातीत, कालातीत, लिंगातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत व मायातीत होता हूँ और तथाकथित जाग्रतावस्था में **'मैं**' (जीवात्मा) इन सभी बन्धनों में बँध जाता हूँ, क्योंकि देह के नाम-रूप से तद्‌रूपता में जीव-सृष्टि में उतर आता हूँ।

जब हमारी देह के लिए किसी गर्भ में एक अदृश्यप्रायः बिन्दु (भ्रूणावस्था) के रूप में गर्भाधान हुआ, वह हमारे जीवन का **प्रारम्भारम्भ** है। इसी प्रकार हमारे जीवन के अन्त **'मृत्यु**' का भी एक अन्त है, जिसे हमने **अन्तान्त** (जब देह पंच-तत्त्वों में विलीन हो जाती है और भस्मी शेष रह जाती है) की संज्ञा दी थी। **हमारे जीवन के ये दोनों छोर अकाल और निराकार हैं तथा जन्म-मृत्यु में बंधी साकार देह से परे (देहातीत) हैं।** निर्माण, पालन और संहार यही मानव-देह का रुटीन है। **ये एक ही समय में भी मानसिक जगत में क्रमशः चलते रहते हैं।** अपना निर्माण किसी ने नहीं देखा। चाहे विज्ञान कितनी भी प्रगति कर ले, अपनी देह के निर्माण में आज तक न कोई मानव स्वयं हस्तक्षेप कर सका है, न कर सकता है और न कभी कर सकेगा। अपने पालन की विभिन्न अवस्थाओं में से विशुद्ध पालन की

अवस्था शैशवावस्था है, जब हम पालने में होते हैं। उस अवस्था में हम स्वयं में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते। **हमारे जीवन की तथाकथित जाग्रतावस्था में पालनावस्था के बाद की जितनी भी अवस्थाएँ हैं, उसमें हम पालने में नहीं होते, बल्कि स्वयं को खुद पालना चाहते हैं।** मानव-जीवन का अत्यधिक समय जो व्यर्थ होता है, वह इसी अहं में होता है, कि मुझे कुछ करना है अथवा किसी को पालना है। **अपने पालने में हमारा कोई हस्तक्षेप नहीं होता, लेकिन किसी को पालने में हमारी समस्त दखलंदाज़ी हो जाती है।**

जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में जब हम तथाकथित जाग्रत होते हैं, उसमें जो हस्तक्षेप हम करते हैं, उसकी आवश्यकता नहीं है। **यदि पूरे जीवन को हम एक दिन मान लें, तो दिन का शुभारंभ हमारे सुषुप्ति से उठने में होता है और अन्त होता है—रात्रि में सुषुप्त हो जाने में।** अतः दो सुषुप्तियों के बीच में एक दिन है। सुषुप्ति से हम उठे और सुषुप्ति में गए। यह निद्रा क्या है और नींद से उठना ही क्या जाग्रत होना है? इसका विश्लेषण होना चाहिए। दोनों सुषुप्तियों में स्वयं में हमारी देह निराकार और अकाल होती है और हम स्वयं में देश-काल, लिंग, धर्म, कर्तव्य, कर्म, सम्बन्ध, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, सत, रज, तम् तीनों गुणों से परे होते हैं। **जितनी हमारी समस्त भाग-दौड़ है, वह दो रात्रियों की सुषुप्तियों के मध्य दिन में ही है।** हम जानते हैं, कि जब हम सुषुप्ति में जाएंगे, तो कुछ भी नहीं रहेगा—**न मैं (नाम-रूप की देह), न मेरी देह पर आधारित जगत।** उठ कर यदि हम स्वयं को तरो-ताज़ा महसूस करते हैं, तो यही कहते हैं कि मुझे नींद का आनन्द आया। यद्यपि हमने अपनी नींद नहीं देखी। जब नींद हमने देखी नहीं, तो उसका आनन्द हम कैसे ले सकते हैं? अपनी देह की ताज़गी से हम अपनी सुषुप्ति की गुणात्मकता का आकलन करते हैं। सुबह उठकर यदि सिर में दर्द हो, आलस सा हो, कुछ ऊर्जा का अभाव लगने लगे, तो हम यही कहते हैं, कि नींद ठीक से नहीं आई। **तथाकथित जाग्रतावस्था में अपनी दैहिक और मानसिक अवस्था से हम सुषुप्ति की गुणात्मकता का**

आकलन करते हैं। निद्रा किसी ने नहीं देखी। लेकिन हम दिन भर थक कर फिर सोना चाहते हैं और उठ कर फिर उन्हीं कामों में संलग्न हो जाते हैं, जिनसे थक कर सोए थे। यही हमारी life है। इसमें और पशुओं की life में कोई अन्तर नहीं है। पशु भी नींद से उठते हैं, वे भी उठकर अपनी देह तथा अपने बच्चों के पालन-पोषण में व्यस्त हो जाते हैं और रात्रि में पुनः सो जाते हैं। हम मानव भी इसी प्रकार कार्यरत हो जाते हैं। इसे कहा है—**उठना।** इस उठने के बाद कुछ न कुछ करके फिर रात्रि को सो जाते हैं और अन्ततः चिर-निद्रा में चले जाते हैं, मर जाते हैं। सद्गुरु ने कहा है—**''तू मानव है—उत्तिष्ठ-जाग्रत।'' तू उठकर जाग सकता है,** पशु-पक्षी उठते हैं, पर जाग नहीं सकते। नींद से उठकर सद्गुरु द्वारा निर्देशित मानवीय कर्म एक ही है, कि अब तू जाग।

जब **मैं** (जीवात्मा) उठता हूँ, तो नाम-रूप **की** देह की अवचेतना में उठता हूँ और देह पर आधारित समस्त जगत मेरे साथ होता ही है। हम वर्तमान को लेकर नहीं उठते। हम सब अतीत के किसी न किसी शोक अथवा भविष्य की चिन्ताओं अथवा योजनाओं-परियोजनाओं से बोझिल ही उठते हैं। हम आधि, व्याधि, उपाधि, मल-विक्षेप व आवरण से ग्रसित ही उठते हैं, जिसमें सुख-दुःख, लेना-देना, खोना-पाना, मिलना-बिछुड़ना सब कुछ रहता है। उसके अनुसार दिन में हम कार्यरत रहते हैं। शाम तक कुछ कार्य हो जाते हैं, कुछ नहीं होते, फिर अगले दिन उन्हें पूरा करने का भाव लेकर हम सो जाते हैं। **रात को हम उस दिन के अधूरे कार्यों की असंतुष्टि की अभिव्यक्ति और अगले दिन उन्हें पूरा करने की आसक्ति लिए ही सोते हैं।** अगले दिन उसी आसक्ति में हम उठते हैं। यही हमारे जीवन का रुटीन है। इन्हीं के लिए तथाकथित पूजा-प्रकरण, जप-तप, यज्ञ-हवन भी करते हैं, जिनका **'अर्थ'** मात्र भौतिक प्राप्तियों और स्वार्थों तक ही रहता है। हमारी इच्छाओं और चाहतों का कभी कोई अन्त नहीं होता। जो भी जीवन में हम पाते हैं, मृत्योपरान्त यहीं छोड़ जाते हैं।

नाम-रूप में हमारी देह सीमित है और हमारी समस्त प्राप्तियाँ भी

सीमित ही रहती हैं। अपने हिसाब से हम असीम पाते हैं, लेकिन प्राप्ति के बाद वह सीमित हो जाता है। इस सबके पीछे हमारी **'मैं'** है, जो सबकी एक ही है और असीम है। **'मैं'** (जीवात्मा) ईश्वर का इकलौता मानस-पुत्र है, जो स्वयं में ऐश्वर्य, ज्ञान, सौन्दर्य, ख्याति, शक्ति और वैराग है। वह देह द्वारा और देह में प्रकट मायिक विभूतियों से कभी भी सन्तुष्ट हो ही नहीं सकता। यहाँ किसी का कोई अपराध नहीं है। **जब तक 'मैं' (जीवात्मा) देह द्वारा ही अपनी असीमता, सर्वसम्पन्नता, सर्वव्यापकता और ईश्वरत्व की अनुभूति न कर ले, तब तक वह आसक्त ही देह त्यागता है।** इसका कारण यह है, कि हमने नाम-रूप में सीमित देह के साथ असीम **'मैं'** लगा ली। सद्‌गुरु कहता है–"निद्रा से उठकर तू अपने प्रोग्राम मत बना, बल्कि पहले जाग। तू सोच, कि सुषुप्तावस्था में तुझे नाम-रूप की देह की अवचेतना नहीं थी, साथ ही तेरा कोई जगत नहीं था। इसलिए जिस ताज़गी और विश्राम की अनुभूति तुझे हो रही है, वह उस सुषुप्ति के कारण है। अब तू फिर देह की अवचेतना में ही उठा है। **तू यह तो सोच, कि तुझे अपनी चेतना की अनुभूति तो हुई ही नहीं।** अब तथाकथित जागृति में निद्रा से उठकर अपनी परम जागृति के लिए **रात्रि की उस निद्रावस्था में आए स्वप्न पर विचार कर।**

एक सद्‌शिष्य रात्रि में सोता है और सुबह उठकर तथाकथित जाग्रतावस्था में रात्रि में देखे गए स्वप्न पर विचार करता है। भ्रमित सी अवस्था में वह सद्‌गुरु की शरण में जाता है। स्वप्न की घटनाओं का वर्णन करते हुए कहता है, कि मुझे कृपा करके इसका अर्थ बताएँ। सद्‌गुरु उससे प्रश्न पूछता है, कि तुमने जिस घटना का वर्णन किया, वह तुम्हारे साथ ही घटित हुई थी? क्या वह व्यक्ति तुम ही थे, जो स्वप्न में भाग-दौड़ कर रहा था, सुखी-दुःखी हो रहा था? वह उत्तर देता है, कि–हाँ महाराज! वह मैं ही था। सद्‌पुरुष जब किसी प्रश्न का उत्तर देते हैं, तो पहले उसके मूल में जाते हैं। सद्‌गुरु दूसरा प्रश्न पूछता है, कि **जब वह स्वप्न आ रहा था, यानि वह घटना तुम्हारे साथ घट रही थी, तो तुम उस समय क्या कर रहे थे?**

सपने में जो तुम कर रहे थे, वह तो तुमने सुना दिया, लेकिन जिस समय वह स्वप्न चल रहा था, तब तुम क्या कर रहे थे, तुम कहाँ थे? वह कुछ सोच कर उत्तर देता है, रात को मैं सो रहा था इसलिए मुझे सपना आया। सुषुप्ति के दौरान ही मैंने सपना देखा। सद्गुरु उसके भ्रम का निवारण करते हुए कहता है—यदि तुम सो रहे थे, तो इसका अर्थ है, कि तुम कहीं भी आए-गए नहीं, तुम जिस बिस्तर पर रात को सोए थे, वहीं से उठे हो। सपने में न जाने कहाँ-कहाँ गए, भाग-दौड़ की, कुछ पाया कुछ खोया, किसी से मिले और किसी से बिछुड़े और उस सबका अर्थ पूछने आए हो। उस स्वप्न का क्या कोई प्रमाण है तुम्हारे पास? क्या स्वप्न का कुछ तुम्हारे पास शेष है? क्या स्वप्न देखते समय जब तू भाग-दौड़ कर रहा था, वह सब तुझे सपना लगा? वह यही उत्तर देता है—''नहीं महाराज।'' सद्गुरु पुनः पूछता है, कि अब तुझे वह सब सपना क्यों लग रहा है? उत्तर मिलता है, कि ''तब मैं सोया हुआ था और अब मैं उठा हुआ हूँ।'' सद्गुरु कहते हैं, कि स्वप्न में भी तो तुम उठे हुए थे और उठ कर ही यहाँ-वहाँ भाग-दौड़ कर रहे थे, लेकिन अब तुम जानते हो, कि तब तुम सो रहे थे। **इसी तरह से अब भी तुम उठे हुए हो और स्वप्न वाली सृष्टि में की गई भाग-दौड़ का 'अर्थ' पूछने 'स्वप्न में ही' मेरे पास आए हो। तुमने सुषुप्ति में स्वप्न देखा, लेकिन सपने में तो तुम नहीं सोए। यदि सपने में सोए होते, तो वह निद्रा भी तुम्हें याद न होती।**

सद्गुरु कहता है, कि तुम्हें अपने स्वप्न की स्मृति है और यह भी स्मृति है, कि स्वप्न में तुम्हें वह सपना नहीं लगा। **तुम्हें अपनी उस सुषुप्ति की तो कोई स्मृति है ही नहीं।** वह स्वप्न कितनी देर चला, यह भी तुम्हें ज्ञात नहीं। स्वप्न देखते समय तुम्हें वह स्वप्न इसीलिए नहीं लगा, क्योंकि तुम सोए हुए थे। अब तथाकथित जाग कर तुम उसे स्वप्न घोषित कर रहे हो और इसका वर्णन कर रहे हो, मुझ से अर्थ पूछने आए हो। अब भी तुम ऐसे ही उठे हुए हो जैसे स्वप्न में उठे हुए थे। अब तुझे यह स्वप्न नहीं लग रहा है, क्योंकि तू अब भी सोया हुआ है। **तेरा स्वप्न बदल गया, लेकिन जागृति नहीं हुई।** तुम

जानते हो, कि वह स्वप्न तुम्हारी किसी योजना के अनुसार नहीं आया, उसका कुछ चिन्ह भी तुम्हारे पास नहीं है। उस स्वप्न में जो कुछ तुम्हें प्राप्त हुआ, उसका कुछ भी तुम्हारे पास नहीं है। तू एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में आ गया। अब भी जो कुछ तू कर रहा है, स्वप्न में ही कर रहा है। तेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा।

जो था नहीं, जो है नहीं और जो रहेगा नहीं, तू उसका मुझसे 'अर्थ' पूछने आया है। तुझे भली-भाँति ज्ञान है, कि तू उस समय सोया हुआ था। तू अपनी उस निद्रा का 'अर्थ' जानने की जिज्ञासा रख, क्योंकि स्वप्न की उस समस्त सृष्टि में हुई भाग-दौड़ व सुख-दुःख में तेरी सुषुप्ति ही महत्त्वपूर्ण है। न वह निद्रा होती, न स्वप्न आता। तू कहीं आया-गया नहीं, सोया हुआ था और स्वप्न में इतना कुछ घटित हो गया, जो तुझे याद है तथा निद्रा की तुझे रंच मात्र भी स्मृति नहीं है। **तूने स्वप्न के वे दृश्य तो देखे, लेकिन अपनी निद्रा नहीं देखी।** तू एक जगत का **'अर्थ'** पूछना चाहता है, कि उसने मेरे साथ ऐसा क्यों किया, मैं दुःखी हूँ, मैं पापी हूँ या पुण्यी हूँ। अब तथाकथित जाग्रत होकर सद्गुरु से दूसरे स्वप्न में पहले स्वप्न का **'अर्थ'** पूछ रहा है। तुझे यह स्वप्न नहीं लग रहा, क्योंकि तू अभी भी सोया हुआ है। जो था ही नहीं, जो अब है नहीं और जो रहेगा नहीं, उसका **'अर्थ'** मैं तुझे क्या बताऊँ ! यदि मैं उसका **'अर्थ'** बताता हूँ, तो उसके बाद तू गिरेगा। **अधोगति में निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ की ओर उन्मुख हो जाएगा।** क्योंकि तू स्वप्न जगत के मिथ्यात्व का **'अर्थ'** जानना चाहता है। **इसका सद् है, कि तू सोया हुआ था, जिसका तुझे ज्ञान नहीं था।**

आत्म-चिन्तन के लिए हमें आश्वस्त हो जाना चाहिए, कि कोई भी मिथ्यात्व **'सद्'** के बिना नहीं होता। **देह और देह पर आधारित जगत स्वयं में मिथ्या है, इसका सद् है, कि यह स्वप्न है। देह और देह पर आधारित जगत के मिथ्यात्व में हमें सद्गुरु-कृपा से यह अनुभूति करनी है, कि यह स्वप्न है।** सद्गुरु अपने शिष्य से स्पष्ट कह देता है, कि जब तक अपने देखे स्वप्न जगत का स्वप्नत्व तेरी अनुभूति नहीं बन जाएगा, तब तक

तू इसका **'अर्थ'** नहीं जान पाएगा। यदि जानना चाहेगा, तो भ्रमित होता हुआ निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ की ओर अधोगति को प्राप्त हो जाएगा। **यदि तुझे इसके स्वप्नत्व की अनुभूति हो जाएगी, तो इसका अर्थ जानना नहीं चाहेगा।** तू उसका अर्थ इसलिए जानना चाहता है, क्योंकि वह स्वप्न देखते समय तुझे यह नहीं मालूम था, कि यह मैं स्वप्न देख रहा हूँ। उस समय की निद्रा की तुझे कोई स्मृति नहीं है, जो उस समस्त स्वप्न-सृष्टि का कारण थी।

स्वप्न में यदि यह ज्ञात हो जाता, कि यह स्वप्न है, तो उसका अर्थ क्या जानना? अब भी तू स्वप्न में है, क्योंकि स्वप्न की एक देह को अपना स्वरूप मानकर उसका 'अर्थ' जानना चाह रहा है। तेरी अवश्य ही अधोगति होगी। तू एक मिथ्या जगत का **'अर्थ'** जानना चाहता है, तो उसका **'सद्'** ग्रहण कर। उसका सद् यह है, कि **वह स्वप्न था और तू सोया हुआ था।** अपनी सुषुप्ति की अनुभूति कर, तभी तुझे जगत स्वप्नवत् प्रतीत होने लगेगा और तू उसका आनन्द लेगा। सपना टूटेगा नहीं, बल्कि तेरी जागृति हो जाएगी और सब कुछ स्वप्न लगने लगेगा। **'मैं'** (जीवात्मा) सोया हुआ था और **'मैं'** ने स्वप्न में यह देखा और यह किया। ये दो **'मैं'** कहाँ से आ गईं, **'मैं'** तो एक ही है। **'मैं'** तेरा जीवात्मा स्वरूप है, जो कहीं गया-आया नहीं, टस से मस नहीं हुआ, ***'न कित आएबो, न कित जाएबो।'***

श्रवण, चिन्तन, मनन और प्रवचन सब कुछ हवन है। यह महाअग्नि का प्राकट्य है। इन सबकी सिद्धि **'यज्ञ'** से होती है। जप, तप, हवन सद्गुरु-सेवा सब यज्ञ है। यह सब कुछ मिथ्या नहीं है, इनके माध्यम से अनुभूति हो जाती है, कि सब कुछ स्वप्न है। सद्गुरु कहता है—कि **'मैं'** दो नहीं हो सकती, सर्वव्यापी **'मैं'** एक ही है। स्वप्न में देह उठती है, तुझे लगता है, मैं उठा हुआ था। ठीक है **'मैं'** देह के साथ तद्रूप होकर उठा हुआ था, विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से जगत का अधिग्रहण व प्रस्तुतिकरण कर रहा था। सुखी-दुःखी हो रहा था, लेकिन साथ ही तेरा जीवात्मा स्वरूप (**मैं**) सोया हुआ था। तेरा **'मैं'** (जीवात्मा स्वरूप) अभी भी सोया हुआ है। तू अभी भी देह

को अपना स्वरूप मान रहा है। इसलिए कह रहा है, मुझे स्वप्न आया, मेरे साथ अमुक-अमुक घटना घटी, मुझे इसका **'अर्थ'** बताओ। क्योंकि अभी भी तू देह के साथ तद्‌रूप है। सद्‌गुरु कहता है, मैं तेरी देह का क्या **'अर्थ'** बताऊँ? **देह और देह पर आधारित जगत मिथ्या है। इसका सद् है, कि यह सपना है। इसका सद् है, कि तू सोया हुआ था और अब भी सोया हुआ है। तेरा जीवात्मा स्वरूप तब भी सोया हुआ था, अब भी सोया हुआ है।**

जो (जीवात्मा) सोया हुआ था और जो सोया हुआ है, वहाँ तो जगत बना ही नहीं। वहाँ कोई नाम-रूप, धर्म-कर्म, लिंग, देश-काल, कर्म-कर्तव्य, सम्बन्ध, मित्र-शत्रु, शुभ-अशुभ तथा माया के तीनों गुण थे ही नहीं। वह जीवात्मा स्वरूप है, जो तेरी वास्तविक स्थिति है, वह सुषुप्त है। तू अपनी उस स्थिति को Realise कर, तब तुझे जगत के स्वप्नवत् की अनुभूति हो जाएगी। इसलिए **उत्तिष्ठ-जाग्रत। 'मैं'** सद् है, '**मैं**' जीवात्मा है, जो ईश्वर की ही भाँति सहज सुखराशि है, जो देशातीत, कालातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, लिंगातीत, कर्तव्यातीत और माया के तीनों गुणों से परे है। तब जगत का यह स्वप्न चलता रहेगा, लेकिन ज्ञान हो जाएगा, कि **'मैं'** (जीवात्मा) जिस देह और देह पर आधारित जगत का अधिग्रहण व प्रस्तुतिकरण कर रहा है, विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से जिसे देख, सुन, सूँघ, चख और स्पर्श कर रहा है, विभिन्न कर्मेन्द्रियों द्वारा भाग-दौड़ करता हुआ कभी कुछ पा, कभी कुछ खो रहा है, वह सब सपना है। इसलिए जगत को हमारे शास्त्रकारों ने **'वंध्या सुत'** (बांझ का बेटा) कहा है।

वह मानसिक स्थिति, जिसमें **मैं** (जीवात्मा) स्वयं नाम-रूप की देह में होते हुए भी स्वयं में देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, मायातीत हूँ, वही जीवात्मा की जागृति है। **देह की तथाकथित जागृति का कोई महात्म्य नहीं है। पशु भी इसी प्रकार जागे हुए भाग-दौड़ रहे हैं। यह सब कुछ जड़ता में होता है।** इसलिए मानव-देह में मानव-जीवन जीते हुए अपनी सुषुप्ति की मानसिक स्थिति की अनुभूति करनी आवश्यक है। यही **'समाधि'** है।

समस्त साकार नामरूपात्मक सृष्टि में जीवात्मा को दी गई एक देह मात्र यही देखने के लिए है, कि **'मैं'** (जीवात्मा) विभिन्न सृष्टियों का मात्र दृष्टा हूँ। यह स्थिर, शाश्वत् और जाग्रत रूप तभी अनुभूति में आता है, जब वह अपनी तथाकथित जागृति में सुषुप्ति की निराकार व अदृश्य मानसिक अवस्था को देख ले। **'मैं'** साकार देह नहीं है, लेकिन साकार देह के सान्निध्य व तद्रूपता में भ्रमित हो जाता है, कि मैं अमुक-अमुक (नाम रूप की देह) सो रहा था और स्वप्न देख रहा था। सद्गुरु अपने सद्शिष्य को **'समाधि'** का निर्देश देता है। **आधि, व्याधि और उपाधि का समाधान समाधि है।** सद्गुरु-कृपा से ही वह अपने भाव के अनुसार इष्ट व सद्गुरु से जुड़कर इस स्थिति की अनुभूति कर पाता है। वही जीवात्मा स्वरूप की परम जाग्रत अवस्था है। तब जगत का यह स्वप्न टूटता नहीं, लेकिन सब कुछ स्वप्नवत् आभासित होने लगता है। फिर यथार्थ भूमि पर आगे धर्म, काम और मोक्ष के सोपानों पर ऊर्ध्वगति होती है।

जगत की Realisation यही है, कि यह **सपना** है और **निद्रा** की Realisation **समाधि** है, वह जागृति है। **मृत्यु** की Realisation **अमरत्व** है, **भस्मी** की Realisation **शिवत्व** है। वस्तुतः निद्रा, मृत्यु और भस्मी अवस्था की अनुभूति ही जागृति, अमरत्व एवं शिवत्व है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(4 जनवरी 2007)

उत्तिष्ठ-जाग्रत

(भाग 2)

उत्कृष्टतम् मानव-जीवन जीने के तीन आयाम हैं–Condensation, Activation and Manifestation (संघनन, प्रकरण और प्रकाट्य)। तथाकथित होश सम्भालते ही हमारे लिए जैसे देह का प्रकाट्य हुआ, वैसे ही माता-पिता, घर-परिवार, देश-समाज आदि का भी प्रकाट्य हुआ। मानव के लिए आजीवन देह सहित जगत, माया की विभिन्न विधाओं में समय-समय पर विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार प्रकट होता रहता है। उसके लिए उसे कोई योजना नहीं बनानी होती।

ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट संरचना मानव-देह है, जो पूर्णतः ईश्वर द्वारा निर्मित, पालित और संहारित है। पंच-महाभूतों से इसका निर्माण होता है, पंच-महाभूतों से ही इसका पालन होता है और अन्ततः पंच-महाभूतों में ही यह विलीन हो जाती है। शिव का स्वरूप वैराग है। विरक्ति उसकी अति शक्ति है। **शिव अपने वैराग में, स्वयं, स्वतः और स्वान्तः सुखाय क्रीड़ा करते हुए पंच-प्राणों की महाशक्ति को प्रकट करता है।** उसका वैराग और पंच-प्राणों की शक्ति दोनों अदृश्य हैं। अतिशक्ति (वैराग) और महाशक्ति (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, पंच-प्राणों का ज्योति-पुंज) में क्रीड़ा होती है, इसे **शिव-शक्ति-क्रीड़ा** कहा जाता है। वैरागी शिव में यह महाशक्ति समाहित ही है, उससे पृथक् नहीं है। छोटी **'इ'** शिव में शक्ति का बीज है। **शिव-शक्ति-क्रीड़ा का स्थल ब्रह्माण्डातीत है।** कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों में पंच-महाभूतों की साकार व दृश्यमान सृष्टि में उसका प्रकाट्य होता है।

प्राण प्राण से **अग्नि**, **अपान** प्राण से **वायु**, **समान** प्राण से **पृथ्वी, व्यान** प्राण से **आकाश** और **उदान** प्राण से **जल** का प्रकाट्य हुआ। ये पाँचों तत्त्व स्वयं में सहज जड़ हैं। **ईश्वर की अतिशक्ति (वैराग) और महाशक्ति (पंच-प्राण) की पारस्परिक आनन्दमय क्रीड़ा से प्रकट इन पंच-महाभूतों को स्वयं अपना और ईश्वर का न कोई ज्ञान है, न था और न कभी हो सकता है।** फिर भी सबसे बड़ा चमत्कार यह है, कि ये पाँचों अविरल व अकाट्य रूप से गतिशील हैं। **इनकी गतियाँ बहुत ही सार्थक, योजनाबद्ध और उपयोगितापूर्ण हैं।** पृथ्वी अपनी धुरी पर भी घूमती है और सूर्य के चारों ओर परिक्रमा भी करती रहती है। वायु सतत् प्रवाहमान है। आकाश में ग्रह-नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा व उल्कापिण्ड आदि अविरल गतिमान रहते हैं। जल निरन्तर प्रवाहित होता रहता है और अग्नि लगातार प्रज्ज्वलित रहती है। इनकी सतत् गतियाँ पूर्णतः नियन्त्रित और निश्चित तरीके से होती रहती हैं, जो अकारण नहीं हैं, पूर्णतः योजनाबद्ध, उपयोगी और विशेष ईश्वरीय निर्देशानुसार नियमबद्ध रूप से होती हैं। **इस प्रकार ये पंच-महाभूत जो सहज जड़ हैं, वे सहज रूप से गतिशील हैं।** हर गति के लिए **'शक्ति'** अपेक्षित है, बिना शक्ति के कोई गति नहीं हो सकती। अतः **इन पंच-महाभूतों को गति देने वाली शक्ति शिव का वैराग है, जो अदृश्य भस्मी के रूप में इनमें समानतया कण-कण में समाहित रहता है।**

इन्हीं पंच-महाभूतों के संगम से कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों तथा समस्त प्राणी-जगत का निर्माण, पालन व संहार होता है। समस्त जड़-चेतन सृष्टि पंच-महाभूतों के संगम में प्रकट हैं। पंच-महाभूतों द्वारा ही समस्त जलचरों, नभचरों, थलचरों तथा मानवों का पालन होता है। पंच-महाभूतों में अग्नि शिव-प्रिया है, तो संहार के बाद अग्नि द्वारा ही पंच-महाभूतों से संगमित किसी वस्तु अथवा प्राणी का दहन होने पर इनमें अदृश्य रूप से समाहित शिव के वैराग की प्रतिरूप **भस्मी** प्रकट हो जाती है और ये पंच-महाभूत अपने-अपने रूपों में लीन हो जाते हैं। **सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में सर्वोत्कृष्ट**

रचना मानव-देह है। जब हमने स्वयं को पहचाना, तो हमें यह देह बनी-बनाई (निर्मित) मिली। यह पालित भी थी। कोई शिशु अपनी देह का पालन स्वयं नहीं करता और देह का अन्त भी किसी प्राणी के हाथ में नहीं है। **निर्माण, पालन और संहार के समस्त क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी महाचेतन तत्त्व वैराग की प्रतिरूप यह अदृश्य भस्मी ही है।** संहार के बाद यह अदृश्य भस्मी तत्त्व प्रकट होता है। यह **भस्मी** प्रकट तब होती है, जब मानव-देह पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है। यह प्रकट भस्मी जड़ होती है।

हम मानव तथाकथित होश सम्भालते ही पंच-महाभूतों की इस मानव-देह के नाम-रूप के साथ **'मैं'** लगाते हैं। **'मैं'** जीवात्मा का शब्द-रूप में प्राकट्य है। हमारी सबकी नाम-रूप की देह दृश्यमान है। नाम-रूप में हम सब साकार हैं। इस साकार सृष्टि को देख, सुन, छू, सूँघ और चख सकते हैं, लेकिन हमारी **'मैं'** अदृश्य व निराकार है। हम सब **'मैं'** लगाते हैं। **मैं** के लिए किसी का झगड़ा नहीं है। कोई किसी को नहीं कहता, कि मेरी **'मैं'** तुम अपने साथ क्यों लगा रहे हो। **'मैं'** जीवात्मा तत्त्व है, जिसके बिना मानव-देह सक्रिय नहीं हो सकती। मानव-देह की क्रियाशीलता का सूचक **'मैं'** शब्द का उद्‌घोष है। मानव-देह अपनी जिस भी अवस्था में **'मैं'** लगाने की स्थिति में नहीं होती, वह जीवन के लिए स्वयं में निष्क्रिय होती है। उदाहरण के लिए गर्भावस्था, शैशवावस्था, सुषुप्तावस्था, मूर्च्छावस्था, विस्मृतावस्था और मृतकावस्था। इन अवस्थाओं में भी देह में पंच-महाभूतों की समस्त क्रियाशीलता चलती रहती है। पंच-महाभूत स्वयं में सहज जड़ रहते हुए भी मात्र ईश्वरीय निर्देशानुसार सतत् गतिमान रहते हैं। **जब हम 'मैं' लगाने की स्थिति में नहीं होते, तो देह स्वयं में जीवन के लिए निष्क्रिय होती है।** इस प्रकार **'मैं'** जीवात्मा का शब्द-रूप में प्राकट्य है, जो मानव-देह की जीवन के लिए क्रियाशीलता का द्योतक है। **'मैं'** (जीवात्मा) देह से पहले भी था, देह के दौरान भी है और देह के बाद भी रहेगा। **यह वक्तव्य भी 'मैं' (जीवात्मा) किसी मानव-देह की क्रियाशीलता में ही दे सकता है।**

जब देह तथाकथित जाग्रत है, उस समय वह **'मैं'** लगाएगी। **'मैं'** सर्वव्यापक तत्त्व है। स्त्री, पुरुष दोनों ही **'मैं'** लगाते हैं, अतः **'मैं'** **लिंगातीत** है। पति-पत्नी, बाप-बेटा, दादा-दादी, नाना-नानी, बहू-बेटी सब **'मैं'** लगाते हैं, अतः **'मैं'** स्वयं में **सम्बन्धातीत** है। राजा-रंक, मालिक-नौकर, शिक्षक- शिक्षार्थी, डॉक्टर-मरीज़, व्यापारी-ग्राहक सब **'मैं'** लगाते हैं, अतः **'मैं' कर्मातीत** व **कर्तव्यातीत** है। हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, सभी **'मैं'** लगाते हैं, अतः **'मैं' धर्मातीत** है। हर देश का वासी अपने साथ **'मैं'** लगाता है, अतः **'मैं' देशातीत** है। हर युग में मानव ने अपने साथ **'मैं'** लगाई, अतः **'मैं' कालातीत** है। बच्चा, बूढ़ा, जवान सब **'मैं'** लगाते हैं, अतः **'मैं'** देह की किसी अवस्था से बँधा नहीं है, **अवस्थातीत** है। चोर, डाकू, पुलिस, साधु, पाखण्डी, दुष्ट, सज्जन सब **'मैं'** लगाते हैं। अतः **'मैं'** सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण तीनों से परे **मायातीत** है। छोटा, बड़ा, सुखी-दुःखी, गृहस्थी, सन्यासी सब **'मैं'** लगाते हैं, अतः **'मैं' सर्वव्यापी तत्त्व** है। मानव-देह देश-काल, धर्म-कर्म, कर्तव्य, सम्बन्ध, अवस्था, माया के तीनों गुणों, लिंग आदि से सम्पृक्त है, लेकिन **'मैं'** इन सबसे परे है।

मानव का सर्वोपरि धर्म वैराग है। यह वैराग या विरक्ति ही **'मैं'** (जीवात्मा) का धर्म है। **'मैं' अदृश्य है और समष्टि है, लेकिन इसके प्रकाट्‌य के लिए पंच-महाभूतों की एक सक्रिय व्यष्टि मानव-देह चाहिए।** पूरे ब्रह्माण्ड में जितने मानव हैं, उनकी **'मैं'** एक ही है। जीवात्मा (**'मैं'**) एक ही है और अदृश्य है। साकार व दृश्यमान देहें असंख्य हैं, पृथक्-पृथक हैं। **'मैं'** (जीवात्मा) सुख-दुःख से परे सच्चिदानंद ईश्वर का इकलौता मानस- पुत्र है। दृश्यमान एक मानव-देह जब सक्रिय होती है, तब **'मैं'** का शब्द रूप में प्रकाट्‌य सुना जा सकता है। **'मैं'** समष्टि तत्त्व है और देह व्यष्टि है।

दूसरा अति महत्त्वपूर्ण **समष्टिगत** तत्त्व **भस्मी** है। यह भस्मी तत्त्व देह के दौरान अदृश्य रहता है। इसके प्रकाट्‌य के लिए भी **एक व्यष्टि देह**

चाहिए। **'मैं'** के प्रकाट्य के लिए जीवित व सक्रिय **व्यष्टि देह** चाहिए और भस्मी के प्रकाट्य के लिए निष्क्रिय व मृतक **व्यष्टि देह** चाहिए। **'मैं'** और **'भस्मी'** दोनों किसी व्यष्टि देह की नहीं हैं, दोनों समष्टिगत तत्त्व हैं। साथ ही **'मैं'** और **'भस्मी'** दोनों का प्रकाट्य देह से होते हुए भी देह से सम्बन्धित नहीं है, दोनों **देहातीत** हैं।

सद्गुरु कहता है—**उत्तिष्ठ-जाग्रत** ! मानव देहधारी सोए से उठकर कुछ न कुछ जीवन के लिए करते हैं, जैसेकि पशु करते हैं। कुछ कर-करा के, थक-थका कर रात को सो जाते हैं, फिर सुबह उठते हैं। निद्रा हममें से किसी ने नहीं देखी, लेकिन कहते हैं, कि निद्रा का आनन्द लिया। सुबह उठने पर अपनी मानसिक व दैहिक स्थिति की ताज़गी से निद्रा के आनन्द का अनुमान लगाते हैं। उठकर हम फिर वही करते हैं, जहाँ से थक कर सोए थे, और थक कर फिर सोना चाहते हैं। **इस प्रकार दो निद्राओं के मध्य एक दिवस की यह तथाकथित जागृति है। अन्ततः हम चिर-निद्रा में सो जाते हैं।**

उठकर **'मैं'** (जीवात्मा) नाम-रूप की देह से स्वयं को पहचानता हूँ। निद्रा में **'मैं'** था, लेकिन प्रकट नहीं था। देह सोई थी, **'मैं'** नहीं सोया था। देह के उठने पर यदि **'मैं'** स्वयं को देह मानते हुए देह व जीवन के लिए ही सक्रिय रहता हूँ, तो **'मैं'** मात्र देह के रूप में उठा हूँ, जागा हुआ नहीं हूँ। सुषुप्तावस्था में **'मैं'** अपनी देह व उससे सम्बन्धित किसी भी विधा के प्रति चेतन नहीं था और **'मैं'** स्वयं अपनी चेतनता के प्रति भी चेतन नहीं था। **'मैं'** सुषुप्तावस्था में देश-काल, सम्बन्ध, लिंग, कर्म-धर्म, कर्तव्य, उन्नति-अवनति, नाम-यश, मान-अपमान, सुख-दुःख सबसे परे होता हूँ। यही मेरा जीवात्मा स्वरूप है, लेकिन मुझे अपनी इस स्थिति की अनुभूति नहीं होती। सद्गुरु कहता है, **अब तू उठकर अपनी निद्रा वाली मानसिक स्थिति की अनुभूति कर।** इष्ट के प्रेम में सराबोर होकर भाव समाधि में, जप-तप, किसी भी प्रकार से जब मानस की ऐसी स्थिति बन जाए, जहाँ **'मैं'** नाम-रूप की देह और जगत की समस्त विधाओं से परे अपनी चेतनता के प्रति चेतन हो जाऊँ,

तो वह **समाधि** है। **निद्रा से उठकर कुछ समय के लिए हम सब कुछ भूल जाएँ, वही हमारी जागृति होगी। केवल मानव-देहधारी ही उठकर इस प्रकार जाग सकता है। यह मात्र कृपा-साध्य है।** सद्गुरु का हर कृत्य, हर विधा और मौन भी जगाने के लिए होता है। जब **'मैं'** देह के साथ सम्पृक्त हुआ तो **'मैं'** (जीवात्मा) को देहाध्यास हो गया, कि 'मैं देह हूँ'। इससे देह और **'मैं'** दोनों की अधोगति हुई। **'मैं' जीवात्मा अपनी चेतना खोकर अवचेतन जीव बन गया और व्यष्टि देह सर्वव्यापी 'मैं' को अपने साथ लगाकर अपना लक्ष्य भूल गई।** देह Distract हो गई और वहाँ से Distruction प्रारम्भ हो गई।

सर्वोत्कृष्ट मानव-देह एक लक्ष्य के अन्तर्गत जीवात्मा को दी गई है, कि **'मैं'** (जीवात्मा) देह के साधन से स्वयं को पहचान ले। **'मैं'** अदृश्य व निराकार जीवात्मा स्वरूप है तथा **भस्मी** तत्त्व ईश्वरत्व का द्योतक है। बिना देह के **'मैं'** स्वयं को पहचान नहीं सकता। **'मैं'** और **'भस्मी'** देह की ऐसी अवस्थाएँ हैं, जो स्वयं में किसी एक देह की नहीं हैं। लेकिन दोनों देह से प्रकट होती हैं। **'मैं'** का प्राकट्य तब होगा, जब देह जीवित व सक्रिय अवस्था में होगी और **भस्मी** का प्राकट्य तब होगा जब निष्क्रिय व मृतक देह पंच-तत्त्वों में विलीन हो जाएगी।

'मैं' (जीवात्मा) सच्चिदानंद ईश्वर का इकलौता मानस-पुत्र है, जो उसी की भाँति समस्त विभूतियों से युक्त है। वह देह और देह पर आधारित जगत में अपना स्वरूप कभी नहीं पा सकता। जब एक सक्रिय मानव-देह से इसका प्राकट्य हुआ तब देह के साथ तद्रूप होकर अपनी चेतना भुला कर अवचेतन जीव बन गया। **वह जीव बनकर देह में अपने स्वरूप को खोजने लगा, साथ ही अवचेतन देह 'मैं' को अपने साथ पाकर अपना उद्देश्य भूल गयी। व्यष्टि (देह) और समष्टि ('मैं') के सम्बन्ध से व्यष्टि उद्देश्य भूल गई और समष्टि चेतना खो बैठा।**

निद्रा से तथाकथित जाग्रत होकर देह उठती है। उठने के बाद **'मैं'** देह के रूप में **जीवन व देह के लिए** ही सक्रिय रहता हूँ। रात को थक-हार

कर सो जाता हूँ। इस प्रकार उठा जीवात्मा से जीव बना **'मैं'** (व्यष्टि देह) कभी **'जीवन काहे के लिए है'** की दिशा में सोच नहीं सकता। **जब देह ही सर्वोपरि हो तो जीवन के लिए ही कार्य होगा। यह कार्य पशु भी करते हैं।** मानव-देह में ईश्वरीय चेतनायुक्त बुद्धि भी अवचेतन होकर पशुवत् अति सक्रिय रहती है। सब जानवर निद्रा से उठकर अपने हिसाब से अपनी देह व देह पर आधारित जगत के लिए कुछ न कुछ करते हैं और रात को सो जाते हैं। हम मानवों का भी लगभग ऐसा ही रुटीन होता है। **निद्रा से तथाकथित जागकर हमारी समस्त मानसिक, दैहिक व बौद्धिक सक्रियता मात्र भौतिक उपलब्धियों, तथाकथित विकास, स्पर्धा, द्वेष आदि से भरी होती है।** इन्हीं में असन्तुष्ट रहते हुए हम आसक्तियों को लेकर अकाल-मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यही सिलसिला जन्मों-जन्मान्तरों से चल रहा है। जो खोया या पाया, वह यहीं रह जाता है और फिर हम उन्हीं आसक्तियों की पूर्ति की लालसा में युगों-युगान्तरों से भटक रहे हैं। प्रभु ने इतनी उत्कृष्टतम् मानव-देह हमें इस प्रकार भटकने के लिए नहीं दी थी। देह का उद्देश्य कुछ और था। जब देह सोई तो **'मैं'** का प्रकाट्य नहीं था, जब देह उठी तो **'मैं'** का प्रकाट्य हुआ।

सद्गुरु कहते हैं—**उत्तिष्ठ जाग्रत !** तू निद्रा से उठा है, तो तेरी देह उठी है और **'मैं'** प्रकट हुई है। तेरी **'मैं'** देह की सुषुप्तावस्था में भी थी, लेकिन प्रकट नहीं थी। जब देह उठी है, तो **'मैं'** प्रकट हुई है। तूने **'मैं'** (चेतना) को अपनी अवचेतन देह के साथ लगा लिया, कि मैं उठ गया हूँ। इस प्रकार तू चेतन नहीं है, अवचेतन है, **अभी तू मात्र उठा है, जागा नहीं है, अब तू जाग। जागने पर जिज्ञासा होगी कि 'मैं' कौन हूँ, मुझे यह देह क्यों मिली है? 'मैं'** जीवात्मा है। ईश्वर की भाँति सच्चिदानंद है। सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति और वैराग इसका स्वरूप है। देह के साथ तद्रूपता में जीव बनकर अपनी इन विधाओं को देह व देह पर आधारित मायिक जगत में पाने का असफल प्रयास करता रहता है। सुबह निद्रा से उठते ही तथाकथित जाग्रत होकर दिनभर देह और देह पर आधारित जगत

में कुछ न कुछ तलाश करता हुआ भटकता है और थक कर फिर सो जाता है। पुनः अगले दिन जहाँ से थका था, उसी में फिर भटकने के लिए लग जाता है। **थकावट दूर करने के लिए सोता है और तरोताज़ा होकर पुनः थकने में लग जाता है।** दिनभर जो प्राप्तियाँ होती हैं, उन्हें छोड़कर इसे सोना पड़ता है।

गीता में श्रीकृष्ण द्वारा निर्देशित कर्म यह नहीं है। जीवात्मा स्वयं में निराकार व अदृश्य है। अवचेतन देह के साथ तद्‌रूपता में जीव बनकर इसकी असंख्य धारणाएँ व मान्यताएँ बन गईं। गीता के अन्त में भगवान ने अर्जुन से कहा, कि तू सभी धर्मों (जो तूने धारण की हैं, वे धारणाएँ व मान्यताएँ) को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। पर यह कार्य कैसे हो ? **जैसे ही 'मैं' का प्रकाट्य हुआ, तो 'मैं' सक्रिय देह के साथ स्वयं को पहचान कर असंख्य मान्यताओं व धारणाओं से घिरा हुआ जन्म-मरण-धर्मा जीव बन गया। वह इन धारणाओं का त्याग कैसे करे?** जो जीवात्मा देश-काल, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, लाभ-हानि, उन्नति-अवनति, लिंग, जाति, धर्म-कर्म, कर्तव्य-निष्ठा तथा माया के तीनों गुणों से परे था, वह इन सबमें फँस गया। जो देह जीवात्मा को अपने स्वरूप की अनुभूति के लिए मिली थी, वह अपने उद्देश्य से च्युत हो गई। **'मैं' अपना स्वरूप खो बैठा। मानव-देह उद्देश्यहीन हो गई। वहाँ से देह बने जीव का प्रारब्ध बनने लगा।** इसकी प्रारब्ध की Case File का अन्तहीन सिलसिला युगों-युगान्तरों से चल रहा है। किसी विशेष जन्म में विशिष्ट सद्‌गुरु-कृपा से उस निराकार सत्ता पर ब्रह्म परमेश्वर का सद्‌गुरु के रूप में स्वयं पदापर्ण होता है। उसी की कृपा से जीव बना जीवात्मा अपने विशुद्ध स्वरूप की अनुभूति करता है।

'मैं' के प्रकाट्य के लिए जीवित सक्रिय देह चाहिए और **भस्मी** के प्रकाट्य के लिए **मृतक देह** चाहिए। **भस्मी** देह की ऐसी अवस्था है, जो स्वयं में किसी देह की नहीं है और **'मैं'** भी किसी एक देह की नहीं है। जब निद्रा से तथाकथित जागकर **'मैं'** का प्रकाट्य हुआ, तो इसकी देह सक्रिय तो

रही, लेकिन लक्ष्य-विहीन हो गई और **'मैं'** का प्रकाट्य तो हुआ, लेकिन **'मैं'** तथाकथित ही जाग्रत हुआ, क्योंकि अवचेतन जीव बन गया। सद्गुरु-कृपा से किसी भी प्रकार **'मैं'** शब्द का प्रकाट्य होने पर **'मैं'** (जीवात्मा) देह को सुलाकर (समाधि द्वारा) निद्रा वाली मानसिक स्थिति में आ जाए। **'मैं'** की जागृति के लिए देह का सोना आवश्यक है, नहीं तो **'मैं'** मात्र उठा हुआ होगा, जाग्रत नहीं होगा। जैसेकि स्वप्न में उठा हुआ था, लेकिन सोया हुआ था।

'मैं' जीवात्मा जाग्रत हुआ तो आश्वस्त हो गया, कि देह मैं नहीं हूँ। तथाकथित जागृति में यह अलसाया हुआ अपना स्वरूप खोजता है। देह को इसने सुषुप्त कर दिया, लेकिन देहाभास इसकी चेतना से नहीं गया। **अब 'मैं' (जीवात्मा) ने जाग्रत होकर देह को मृतक कर दिया, चिर-निद्रा की मानसिक स्थिति में जाकर 'मैं' 'जाग्रत' से 'अमरत्व' में आ गया।** लेकिन अमरत्व में भी इसको अपने विशुद्धतम स्वरूप की अनुभूति नहीं हुई। क्योंकि मृतकावस्था की अवधारणा में भी नाम-रूप की देह का आभास इसकी चेतना में से नहीं गया। फिर **'मैं'** देह की भस्मावस्था देखना चाहता है। ध्यानाग्नि में देह का दहन कर भस्मी बनता है। **भस्मी देह की वह अवस्था है, जो अवस्था देह की नहीं है, क्योंकि भस्मी पंच-महाभूतों की देह के पंच-महाभूतों में विलीन होने पर प्रकट होती है।**

वहाँ 'मैं' देह में होते हुए भी स्वयं को भस्मी से पहचानता हुआ अपने स्वरूप की चेतना में विभोर हो उठता है। अपने शिवत्व पद की अनुभूति कर लेता है। उसके साथ भस्मी चेतन होकर उसके भीतर के वैराग को प्रकट कर देती है। चेतन भस्मी विरक्ति है। उसके बाद जिस देह को **'मैं'** अधिगृहीत करता है वह दिव्य-देह होती है। **वह आसक्त देह न होकर विरक्त देह होती है।** वह व्यष्टि देह के रूप में समष्टि होती है। **'मैं'** (जीवात्मा) की पूर्ण जागृति के तीन सोपान हैं—जाग्रत, अमरत्व और शिवत्व। **'मैं' की पूर्ण जागृति देह की भस्मावस्था की अवधारणा की सिद्धि के बाद होती है, क्योंकि 'मैं' और भस्मी दोनों देहातीत हैं। जब दोनों का**

समन्वय हो गया, तो 'मैं' को अपना खोया हुआ चेतन स्वरूप मिल गया और भस्मी चेतन होकर देह की समस्त आसक्तियों को विरक्ति में रूपान्तरित कर देती है। फिर जिस देह में इसका अवतरण होता है, उस देह में जीवात्मा का साक्षात् अवतरण होता है। वह अजर-अमर, त्रिगुणातीत, देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, धर्मातीत व कर्मातीत होती है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(5 जनवरी से 14 मार्च 2007)

उत्तिष्ठ-जाग्रत

(भाग 3)

मूलतः मन ईश्वरीय आनन्द का स्रोत एवं बुद्धि ईश्वरीय चेतना की प्रतीक है। इन दोनों में स्वतः ही समन्वय होता है। इन दोनों के समन्वय से प्रकट कृत्य **'सद्'** होते हैं। जैसे ही **'मैं' (जीवात्मा) स्वयं को नाम-रूप की देह के साथ पहचानता है, उसी क्षण सद्-चेतन-आनन्द से परिपूरित 'मैं' नाम-रूप की देह में एक जीव बन जाता है। उसकी सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति और वैराग आदि विभूतियाँ क्रमशः काम, अहं, क्रोध, लोभ, मोह और आसक्ति के रूप में विकृतियाँ बन जाती हैं।**

मानव-देह धारण करके होश सम्भालने पर अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करने की दिशा में जिया जाने वाला जीवन ही मानव-जीवन है। **जीवन = जीव + न,** यानि मैं नाम-रूप की देह में जीव नहीं, जीवात्मा हूँ। मेरा जीवात्मा स्वरूप नाम-रूप की देह और उस पर आधारित जगत की सब विधाओं से परे है। यह स्वरूप सोते समय आच्छादित रहता है, इसलिए यह ज्ञान नहीं होता कि **'मैं'** स्वप्न देख रहा हूँ। निद्रा से तथाकथित जाग्रतावस्था में उसे अपने स्वप्न की स्मृति होती है, लेकिन निद्रा की कोई स्मृति नहीं होती। **इस तथाकथित जागृति में जब तक 'मैं' (जीवात्मा) अपनी निद्रा की अनुभूति नहीं करेगा, तब तक वह जीव ही रहेगा। एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में प्रविष्ट होकर, स्वप्न में ही पहले स्वप्न को स्वप्न घोषित करता रहेगा। 'मैं'** (जीवात्मा) न देह है, न जगत है। वह केवल परमात्मा द्वारा निर्मित, पालित एवं संहारित विभिन्न सृष्टियों का दृष्टा मात्र

है। **इस सृष्टि में जीवात्मा को दी गई नाम-रूप की मानव-देह वह आधार है, जिसके माध्यम से समस्त सृष्टि का प्रस्तुतिकरण व अधिग्रहण होता है।** यह सृष्टि **'मैं'** के उस स्वरूप से Erupt, Sprut और Manifest होती है जहाँ देह व जगत की कोई भी विधा नहीं होती। उस Nothingness (निद्रावस्था) अथवा अभावमयी आनन्दपूर्ण, स्थिर, भूमिका की अनुभूति के बिना इस जगत की स्वप्नवत् प्रतीति नहीं होती।

सद्गुरु का—**उत्तिष्ठ-जाग्रत,** घोष मात्र भारतीय संस्कृति के उन पोषकों के लिए है, जो निद्रा से मात्र उठे हुए नहीं हैं, बल्कि **'जागृति की इच्छा'** (जीवात्मा स्वरूप की अनुभूति) की परमोत्कृष्ट जिज्ञासा रूपी अग्नि से परिपूरित हैं। यह जागृति होते ही अनुभूति हो जाती है, कि यह विभिन्न नामरूपात्मक दृश्यमान साकार जगत स्वप्न की नाईं है। **नाम-रूप की देह के साथ तद्रूपता टूटते ही इस संसार की समस्त लिप्तताओं का महल ढह जाता है। 'मन'** अपने मूल आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और **'बुद्धि'** चेतनायुक्त हो विवेक, प्रज्ञा, मेधा, ऋतम्भरा आदि विधाओं को प्राप्त कर लेती है। पहले मन और बुद्धि मल, विक्षेप, आवरण, आधि, व्याधि, उपाधि, भय, त्रास, रोग, दोष से इसलिए आच्छादित थे, क्योंकि जीवात्मा की जागृति नहीं हुई थी और इसे ज्ञान नहीं था, कि यह सुषुप्त है। **जो 'मैं' सोया हुआ था, वहाँ नाम-रूप थे ही नहीं।** इसी मानसिक स्थिति में स्वप्न देखते समय स्वप्न-सृष्टि में विभिन्न नाम-रूप थे। उसमें उसे दी गई नाम-रूप की देह उस समस्त सृष्टि का एक अंग मात्र थी, जिसकी अवचेतना पर वह समस्त सृष्टि आधारित थी। **इस अवचेतना का आधार उसकी चेतना थी।** यह सब नाम-रूपात्मक माया का खेल देखते समय स्वप्न व खेल नहीं लगा, क्योंकि जीवात्मा को अपनी सुषुप्तावस्था की मानसिक स्थिति की अनुभूति नहीं थी।

सद्गुरु-कृपा से एक बार नाम-रूपों से परे सुषुप्तावस्था की अभावमयी मानसिक स्थिति की अनुभूति होने पर जगत का स्वप्न टूटता नहीं है, बल्कि स्वप्न के चलते हुए यह Realise हो जाता है कि 'मैं'

(जीवात्मा) यह स्वप्न देख रहा हूँ, यह सृष्टि मायिक है। यह समस्त सृष्टि नाम-रूप से परे, मेरे उस आनन्दमय स्वरूप से Erupt, Sprut और Manifest हुई है और वहीं लीन होकर पुनः विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार प्रकट व लीन होती रहती है। Everything spruted, erupted and manifested from nothingness moves in nothingness and merged in Nothingness.

जब **'मैं'** (जीवात्मा) ने समस्त सृष्टि का आधार एक नाम-रूप की देह के साथ स्वयं को पहचाना, तो तुरन्त उसकी मानसिकता के अनुसार विभिन्न नाम-रूपों में उस समय का जगत खड़ा हो गया। जिस मानसिकता के अनुसार उसने देह को पहचाना, वह ईश्वरीय नहीं थी, मानवीय थी। **यदि मेरी (जीवात्मा) यह मान्यता है, कि मैं अमुक-अमुक हूँ, तो मेरी मानसिकता ईश्वरीय नहीं हो सकती। वहाँ आनन्द खो जाता है। उस मानसिकता में उस समय का जगत आनन्दमय नहीं सुख-दुःखमय होता है।** जब **'मैं'** परमात्मा को अपना अस्तित्व मानते हुए स्वयं को जीवात्मा मानता हूँ और अपने विशुद्ध निराकार व नाम-रूप से परे स्वरूप से, स्वयं को पहचानता हूँ, जगत वहाँ भी सम्मुख खड़ा होगा। लेकिन तब वह सृष्टि और समस्त दृश्य ईश्वरीय होंगे, आनन्दमय होंगे। उनमें कोई भी लिप्तता या तद्रूपता नहीं होगी। क्योंकि परमात्मा ने जीवात्मा को मानव-देह अपनी निर्मित, पालित व संहारित सृष्टि को देखने के लिए व आनन्द लेने के लिए ही दी है। वहाँ **'मैं'** और **'तू'** का भेद नहीं रहता।**'मैं'** (जीवात्मा) अपनी देह सहित सृष्टि के समस्त नाम-रूपों में अपने इष्ट को ही देखता है और उसकी लीला का रसास्वादन करता है।

'मैं' (जीवात्मा) कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड नायक परमात्मा की इकलौती सन्तान, उसी की भाँति सच्चिदानंद एवं छः दिव्य विभूतियों से विभूषित हूँ। परमात्मा ने सृष्टि में मात्र मेरे लिए इतनी अनेकरूपता, वैविध्य, ललित कलाएँ, राग-रागनियाँ, संगीत व नृत्य की विधाएँ आदि निर्मित कीं। मेरे लिए सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रों से आकाश जगमगाता है, पक्षी कलरव करते हैं,

ऋतुएँ व मौसम परिवर्तित होते हैं, ताकि मेरा मनोरंजन होता रहे। शास्त्र, वेद, उपनिषद्, श्रुतियाँ मेरे दरबार के चारण-भाट हैं, वे मेरी स्तुति करते हैं। **अपनी इस हैसियत की पूरे जीवन-काल में एक झलक भी मिल जाए, तो मानव-जीवन सार्थक हो जाए। यही आत्म-चिन्तन मानव-जीवन का लक्ष्य है।** मानव-देह व मानव-जीवन इसलिए मिला है, कि कभी तो **'मैं'** (जीवात्मा) स्वयं को पहचानूँ और इस दिशा में प्रयत्नरत हो जाऊँ। यद्यपि यह समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है, लेकिन मानव-देह प्राप्त करके यदि हम इस ओर से लापरवाह होते हुए पशुओं की भाँति ही सोए-सोए जीवन बिता कर जीते-मरते रहे, तो दैवीय अधिनियमानुसार सज़ाएँ भुगतते हैं। मानव-देहधारी होते हुए भी यह मानव-जीवन नहीं है।

जैसे ही नाम-रूप की देह की अवचेतना रूपी बल्ब का स्विच ऑन हुआ, तो बल्ब के साथ ही समस्त कक्ष (जगत) भी प्रकाशित हो जाता है। ऐसे ही जब **'मैं'** (जीवात्मा) स्वयं को नाम-रूप की देह से पहचानता हूँ, उसी समय देह सहित जगत भी सम्मुख प्रकट हो जाता है। जगत के विभिन्न नाम-रूपों में मेरी एक नाम-रूप की देह **भी** होती है और समस्त जगत का आधार वह देह **ही** होती है। बल्ब का स्विच ऑफ करते ही उस बल्ब के बुझने के साथ समस्त कक्ष में भी अंधेरा हो जाता है। **जगत का स्विच ऑफ करना हो तो नाम-रूप की देह की अवचेतना का स्विच ऑफ कर दो।** तब न देह, न दुनिया, न सम्बन्ध, न देश, न काल, न धर्म, न कर्म, न लिंग, न जाति-पाति, न गुण, न अवगुण, न पाप, न पुण्य, न शुभ, न अशुभ, न लाभ, न हानि, न सुख, न दुःख, कुछ भी नहीं रहते। निद्रा में नाम-रूप की देह व जगत की कोई विधा नहीं होती, लेकिन उसी समय स्वप्न देखते समय यह सब कुछ होता है और यह ज्ञान नहीं होता, कि यह स्वप्न है, वस्तुतः मैं सो रहा हूँ। तथाकथित जाग्रतावस्था में भी **'मैं'** (जीवात्मा) इसी स्थिति में होता है। वह स्वयं को नाम-रूप की देह से पहचानता हुआ अपने आनन्दमय स्वरूप से वंचित ही रहता है। उसे नहीं पता, कि वह सो रहा है। इसीलिए उसे यह ज्ञान ही नहीं है, कि यह देह व जगत सब सपना है।

निद्रा मेरी वह मानसिक अवस्था है, जिसमें **'मैं'** (जीवात्मा) बिल्कुल भी नाम-रूप की देह की अवचेतना में नहीं होता। इसलिए मेरा कोई जगत भी नहीं होता, लेकिन उस स्वरूप की मुझे कुछ अनुभूति नहीं होती। इसलिए स्वप्न की नाम-रूप की देह के साथ तद्‌रूपता में स्वप्न-जगत की विभिन्न विधाओं में सुखी-दुःखी होता हूँ। **'मैं' (जीवात्मा) की ये दोनों मानसिकताएँ साथ-साथ होती हैं। यदि 'मैं' (जीवात्मा) अपनी निद्रा वाली मानसिक स्थिति की अनुभूति कर ले, तो वही उसकी विशुद्ध चेतनता व जीवात्मा स्वरूप है।** इसकी अनुभूति के बाद स्वप्न के चलते उसे ज्ञान हो जाता है, कि यह सपना है। इस जगत में मेरी एक नाम-रूप की देह और उस पर आधारित जगत मायिक है, तमाशे की तरह है। **'मैं'** न वह देह हूँ और न ही जगत की विभिन्न विधाओं से मेरा कोई लेना-देना है। तब पर्दे पर चलते चलचित्र की भाँति **'मैं'** (जीवात्मा) विभिन्न सृष्टियों का दृष्टा बनकर ईश्वर के खेल का आनन्द लेता हूँ।

The moment I realise that state of mind where I am not there in name and form and hence there is no world too, that is my Awarement. जब **'मैं'** इस आनन्दमयी भूमिका से अपनी अवचेतनता को देख लेगा, वही उसकी चेतना होगी, वही जागृति होगी। **समाधि में योगी अपनी उस स्थिति की अनुभूति कर लेता है।** Realisation of sleep is Samadhi where there is no consciousness of Name and Form. अवचेतना में नाम-रूप की देह और जगत हैं और **चेतना में न नाम-रूप की देह है, न जगत है और दोनों स्थितियाँ साथ-साथ हैं।**

जगत मायिक प्रपंच होते हुए सुन्दर सपना है। जिसने मानव-देह धारण करके हरि भजन, यज्ञ, हवन, दान-पुण्य, सत्संग, सद्‌गुरु-सेवा में हर पल बिताया, उसके लिए जगत सपना है। जिसमें जीवात्मा नाम-रूप की देह में भी है और उस पर आधारित जगत भी है।

स्वप्न जगत का इस Nothingness से क्या सम्बन्ध है? इतना बड़ा स्वप्न मैं देखता हूँ। बने-बनाए लोग विभिन्न नाम-रूपों में प्रकट होते हैं,

उनके जन्मदिन कौन से थे? तथाकथित जाग्रत होने पर उनके समाप्त हो जाने का कोई ग़म मुझे नहीं होता। स्वप्न में जो प्राप्तियाँ हुईं, वे नहीं रहीं, तो भी मुझे दुःख नहीं रहता। स्वप्न में जो हानियाँ हुईं, उसके प्रति भी मैं चिन्ताग्रस्त नहीं रहा। यानि उस स्वप्न-सृष्टि की नाम-रूप की देह का इस तथाकथित जाग्रत नाम-रूप की देह से सम्बन्ध नहीं है, इसीलिए जगत भी बदला हुआ है। अब यह नाम-रूप की देह और जगत स्वप्न नहीं लग रहा है, क्योंकि मैं अभी भी सोया हुआ हूँ। मेरा जीवात्मा स्वरूप जहाँ नाम-रूप की देह और जगत की कोई विधा रहती, अभी भी जाग्रत नहीं हुआ। इसीलिए निद्रा से मैं वैसा उठा हुआ हूँ, जैसाकि स्वप्न के दौरान नींद में मात्र नाम-रूप की देह की अवचेतना में उठा हुआ था। फिल्म की स्क्रीन का पर्दा बिल्कुल साफ और सफेद न हो, तो फिल्म display नहीं हो सकती और फिल्म समाप्त होने पर फिर वह सफेद पर्दा ही रह जाता है। The dream world appeared from nothingness (sleep) it went in nothingness (sleep) and it merged into nothingness (sleep).

मुझे मानव-देह मात्र यह Realise करने के लिए मिली है कि यह देह और उस पर आधारित जगत सब सपना है। अतः मैं वह करूँ जिससे यह तथ्य Realise कर लूँ। तो सद्गुरु कहते हैं–**उत्तिष्ट जाग्रत,** जब **'मैं'** जाग जाऊँगा, तो यह मेरी चेतनता होगी और देह सहित समस्त नामरूपात्मक जगत स्वप्नवत् प्रतीत होने लगेगा। यही मानव जीवन का सार है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(20 और 21 मार्च 2007)

उत्तिष्ठ-जाग्रत

(भाग 4)

पंच-महाभूत स्वयं में सहज जड़ हैं, लेकिन युगों-युगान्तरों से गतिमान हैं। इसका अर्थ है, कि कोई इनसे गति करवा रहा है, जो सदा जाग्रत और महाचेतन है। **विरक्ति या वैराग शिव की अतिशक्ति है।** इससे पंच-प्राणों की महाशक्ति पंच-महाभूतों के रूप में प्रकट होती है और शिव की विरक्ति शक्ति इनमें अदृश्य भस्मी के रूप में कण-कण में समाहित रहती है। निर्माण व पालन के समय यह भस्मी अदृश्य ही रहती है। अग्नि द्वारा संहार होने पर पंच-महाभूत अपने-अपने स्वरूप में लीन हो जाते हैं और वह अदृश्य भस्मी **'प्रकट'** हो जाती है।

पंच-महाभूतों की सर्वोत्कृष्ट रचना मानव-देह है, जो हमें अति कृपावश मिली है। हमें हर पल यह ध्यान रखना चाहिए, कि देह मिली है और यह जाएगी। मुझे यह मिली है और किसी भी समय इसे देने वाला मुझसे ले सकता है। पंच-महाभूतों की एक मानव-देह जीवात्मा (**'मैं'**) को मिली। ''यह **देह** भी **तेरी** (ईश्वर) है और **मैं** भी **तेरा** हूँ।'' जब यह समर्पण तहे-रूह व मन से होगा, तब देह मेरे लिए होगी, नहीं तो करोड़ों जन्मों तक देह मेरी नहीं हो सकती।

मानव-देह का एक उद्देश्य है। ईश्वर ने हमें साँप, बिच्छू, गधा, सुअर या कीड़ा नहीं बनाया। मानव बनाया, तो हमें मानव-देह पाकर इसका सदुपयोग करना होगा। यह देह सब कुछ अपने साथ लेकर आई है। **जब सुबह हम जागते हैं, तो उस समय की मानसिक स्थिति के अनुसार एक**

जगत हमारे साथ प्रकट होता है। किसी दिन सुबह नींद से उठ कर किसी का ख़याल आया है, तो दूसरे दिन किसी और का ख़याल आता है। हमारे साथ ही मौसम प्रकट होता है, जब हम सोए हुए थे, तो हमारे लिए कोई मौसम नहीं था। **मौसम हमारे उठने के साथ एक विशेष विधा के रूप में हमारे लिए प्रकट होता है। With one individuality our total totality is awakened.** इसे उठना कहा जाता है। ऐसे ही पशु भी सुषुप्ति से उठते हैं। इस प्रकार जब हम उठते हैं, तो मात्र देह ही उठती है और सद्‌गुरु-कृपा से जब हम **जाग्रत होते हैं, तो जीवात्मा (मैं) जाग्रत होती है।**

पंच-महाभूतों की गतियाँ मात्र ईश्वर द्वारा ही संचालित और प्रतिपादित हैं। जो ईश्वर के इशारे पर चलता है, वह पूजनीय है और उसकी हर गति पूजनीय है। जब **असद्** किसी भी प्रकार से और सब प्रकार से **सद्** से जुड़ जाएगा और **सद्** के इशारे पर गति करेगा, तो **असद्** भी **सद्** हो जाएगा। जब **असद्** में **सद्** का रंच मात्र भी जामन लगेगा, तो धीरे-धीरे **असद्** भी **सद्** में रूपान्तरित होने लगेगा।

जीवन शास्त्रीय शब्द है, जिसमें विशेष अर्थ छिपा हुआ है। **जीव+न=जीवन—मैं जीव नहीं हूँ। 'मैं'** जीवात्मा का शब्द रूप में प्राकट्य है। **'मैं'** नाम-रूप की देह की अवचेतना में जीव है और जाग्रत **'मैं'** (नाम-रूप की देह से परे अपनी चेतना के प्रति सचेत) जीवात्मा है। मानव होने के नाते हमारी समस्त सक्रियता किस दिशा में है, यह आत्म-विश्लेषण करना होगा। सुषुप्ति से उठकर जो देह और देह पर आधारित जगत के लिए थोपे हुए कर्तव्यों, धारणाओं, मान्यताओं, कर्मों व सम्बन्धों में उलझ जाते हैं, वे मानव देहधारी मानव-जीवन नहीं व्यतीत कर रहे हैं। **यह मात्र जीव भाव में उठना है और मात्र देह की जागृति है।** जीवात्मा (**'मैं'**) की जागृति के लिए मानव-देह द्वारा हुई अथवा की गई समस्त क्रियाएँ मात्र इस दिशा में हों, कि 'मैं जीव नहीं हूँ'। यही मानव-जीवन है और यही मानव-देह धारण करके जीवात्मा का लक्ष्य है। **जीवन की परिभाषा** –

"All the physical, spiritual or otherwise, intentional or

unintentional human activities which are directed, diversified, modified, channelised, deepend or stopped towards attaining a non-variable goal 'मैं जीव नहीं हूँ' is **जीवन**।'' यह **'मैं'** (जीवात्मा) की जागृति है। यहाँ **'मैं'** Realise कर लेता है, कि मैं देह नहीं हूँ।

समष्टि 'मैं' का प्रकाट्य सक्रिय **व्यष्टि देह** से होता है। जीवात्मा समाधिस्थ हो कर अपनी **'मैं'** की अनुभूति कर पाता है। दूसरा **'समष्टि तत्त्व'** भस्मी है, **उसके प्रकाट्य के लिए मृतक देह का पंच-महाभूतों में विलय अपेक्षित है। जैसे** 'मैं' किसी एक देह की नहीं है, उसी प्रकार भस्मी भी किसी एक विशेष देह की नहीं है। जो गुण **'मैं'** में हैं, वही भस्मी में भी हैं और दोनों के प्रकाट्य के लिए **एक व्यष्टि-देह** चाहिए। जीवात्मा को इसीलिए मानव-देह की आवश्यकता है, कि देह की सक्रियता में देह **'मैं'** और **भस्मी** को मिला दे। **यही जीवन है। 'मैं' दृष्टा जीवात्मा** का प्रतीक है और **'भस्मी' स्रष्टा परमात्मा** की प्रतीक है। देवाधिदेव महादेव **चेतन वैराग** हैं।

निद्रा 'वैराग' है और **स्वप्न 'राग'** है। निद्रा में ही स्वप्न आता है। निद्रा से तथाकथित जागृति में उठकर स्वप्न की यथावत् स्मृति होती है और तीन ज्ञान होते हैं—कि **वह स्वप्न था, 'मैं' सोया हुआ था और स्वप्न के चलते, उसके स्वप्न होने का मुझे ज्ञान नहीं था।** निद्रा और स्वप्न साथ-साथ थे। निद्रा में मुझे (जीवात्मा) देह के नाम-रूप व जगत की कोई अवचेतना नहीं थी, लेकिन **'मैं'** था, क्योंकि मुझे निद्रा में देखे स्वप्न की यथावत् स्मृति होती है। **'मैं'** एक नाम-रूप की देह की सक्रियता में उसी के साथ तद्रूप होकर देह व जगत की विभिन्न विधाओं में दुःखी या सुखी हुआ। साथ एक मेरी मानसिक स्थिति वह भी थी, जिसमें मुझे देह के नाम-रूप और जगत का कोई आभास नहीं था। वह अभावमयी आनन्दपूर्ण मानसिक स्थिति मेरी चेतना थी, जिसकी मुझे बिल्कुल भी अनुभूति नहीं थी। इसलिए मुझे ज्ञान नहीं **था,** कि यह स्वप्न **है।** अब उस निद्रा से उठकर तथाकथित जागृति में मुझे ज्ञान **है,** कि वह स्वप्न **था।**

हाँलाकि अब तथाकथित जाग्रतावस्था में **'मैं'** (जीवात्मा) जानता हूँ,

कि न मैं वह देह हूँ और न जगत, लेकिन फिर भी उस देह व जगत की सुख-दुःखमयी मानसिकता से ग्रसित हूँ। मुझे अपनी निद्रा की मानसिकता की स्मृति नहीं है, क्योंकि **'मैं'** (जीवात्मा) ने अपनी निद्रा को न कभी जाना (Observation), न कभी देखा (Visualisation) और न ही उसकी अनुभूति (Realisation) की। फिर भी निद्रा से तथाकथित जागकर इस समय मुझे ज्ञान **है,** कि वह सपना **था,** क्योंकि मैं सोया हुआ था। लेकिन सपने में मुझे ज्ञान नहीं था, कि यह सपना है। **इस तथाकथित जागृति में भी 'मैं' (जीवात्मा) स्वप्न की भाँति उठा हुआ तो हूँ, लेकिन मेरी 'मैं' (जीवात्मा) की जागृति नहीं हुई। क्योंकि मैं स्वयं को नाम-रूप की देह के साथ पहचानने के कारण स्वप्न की घटनाओं से न केवल प्रभावित हूँ, बल्कि उसी से दुःखी-सुखी होता हुआ उसका 'अर्थ' भी जानना चाहता हूँ। नाम-रूप की देह व जगत के साथ तद्रूपता की मोह-निद्रा अब भी मुझे (मेरे जीवात्मा स्वरूप को) ग्रसे हुए है।**

अध्यात्म मन्थन है। व्यवहार व जगत की विभिन्न विधाओं के मन्थन से आत्मचिन्तन व आत्मज्ञान प्रकट होता है। किसी अँधेरे कमरे में चार-पाँच व्यक्तियों को लाकर हम स्विच ऑन करके प्रकाश कर दें। एक मिनट में उस प्रकाश में उनको कक्ष की सम्पूर्ण व्यवस्था व वस्तुएँ दिखा कर पुनः स्विच ऑफ करके अँधेरा कर दिया जाए। उन्हें बाहर लाकर कक्ष में जो-जो देखा, उसके बारे में लिखने को कहा जाए, तो किसी का वक्तव्य किसी से नहीं मिलेगा। इस प्रक्रिया को दो-तीन बार दोहराया जाए, तो एक ही व्यक्ति का भी पहला, दूसरा और तीसरा वक्तव्य भिन्न होगा। **इस जगत में यही हमारी Observation, Visualisation और Realisation है, जो समय-समय पर विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार बदलती रहती है।** दो सुषुप्तियों के मध्य दिन में हम तथाकथित जागृति में कर्मठ होकर, इसी प्रकार तथाकथित आगे बढ़ते रहते हैं। **दिनभर थक कर सो जाते हैं और सुबह उठकर जहाँ से थककर रात को सोए थे, पुनः थकने के लिए तैयार हो जाते हैं।**

देह के साथ नाम-रूप की अवचेतना में स्वयं को पहचानना ही हमारे समस्त दुःखों और सांसारिक लिप्तताओं का कारण है। **अपने चेतन व आनन्दमय जीवात्मा स्वरूप के सम्यक् ज्ञान (Observation), सम्यक् दृष्टि (Visualisation) और सम्यक् अनुभूति (Realisation) के बिना हमारे दुःखों से मुक्ति सम्भव नहीं है। नाम-रूप की अवचेतना में हमारी मानसिक स्थितियों के अनुसार हमारी देह व जगत प्रकट होता हैं।** एक मानसिकता में **'मैं'** (जीवात्मा) स्वयं को पहचानता हूँ। देह व जगत एक ही निराकार मानस **से** प्रस्तुत होते हैं। **नाम-रूप की देह की अवचेतना की तद्रूपता में जीव बना जीवात्मा भ्रमवश अपनी देह से समस्त जगत को पृथक् मान लेता है।**

पहली भूल यह हुई कि उसने देह को अपना स्वरूप मान लिया और वह देह के साथ नाम-रूप में तद्रूप हो गया। दूसरी भूल, पहली भूल के कारण हुई, कि वह देह और जगत पृथक भासने लगे। **देह और जगत साथ-साथ प्रकट और लीन होते हैं। दोनों की मानसिकता एक होती है।** जिस मानसिकता में देह होती है, उस समय का जगत उसी मानसिकता में होता है–***''जो ब्रह्माण्डे सो पिण्डे।''*** The seer is the scene.

नाम-रूप की देह के साथ पहचान जीवात्मा की अवचेतना है, उसी अवचेतना में देह और जगत प्रकट होता है। यह अवचेतना उस समय की मानसिकता पर आधारित है। प्रश्न उठता है, कि इस मानसिकता का आधार क्या है? **इस मानसिकता का आधार निद्रा का स्तर है।** निद्रा में जीवात्मा अपनी नाम-रूप की देह व जगत के प्रति बिल्कुल भी Conscious नहीं होता। लेकिन सुषुप्ति के कारण अपनी चेतनता के प्रति चेतन नहीं होता, इसलिए निद्रा जड़ता है। **स्वप्न** में वह अपनी नाम-रूप की देह और जगत के प्रति पूर्णतः Conscious होता है, लेकिन निद्रा के कारण यह ज्ञान नहीं होता, कि यह स्वप्न है। स्वप्न में देह और जगत की यह अवचेतना इसलिए थी, क्योंकि निद्रा में देह और जगत की अवचेतना बिल्कुल नहीं थी। स्पष्ट है, कि नाम-रूप में देह और जगत की अवचेतना का आधार वह चेतना थी,

जिसमें देह और जगत थे ही नहीं। निद्रा में ही स्वप्न आता है, यदि निद्रा न होती, तो स्वप्न भी नहीं आता।

'कुछ नहीं' है, तो सब कुछ है। 'कुछ नहीं' न होता तो सब कुछ भी न होता। इस स्वप्नवत् संसार **'में से'** किसी को क्या मिल सकता है? जगत कैसा है? जैसा **'नहीं है'** है। इस **'नहीं है'** (Nothingness) पर आधारित मानसिकता के अनुसार नाम-रूप की देह की अवचेतना में **देह और जगत** प्रकट और लीन होता रहता है। इस **'कुछ नहीं'** (Nothingness) के पांच प्रकार हैं–**घोर तामसी निद्रा, जड़ निद्रा, जागृति, अमरत्व और शिवत्व।** स्वप्न-सृष्टि में जो कुछ भी होता है, वह इन निद्राओं की विभिन्न मानसिकताओं पर आधारित होता है।

गिरधारी लाल आनन्द में सो रहा था (जहाँ न वह गिरधारी था, न उसका कोई जगत था) और साथ ही स्वप्न में गिरधारी लाल के नाम-रूप में विभिन्न स्थितियों में दुःखी-सुखी हो रहा था, बहुत भाग-दौड़ कर रहा था। **सोए हुए वह था, लेकिन वह कुछ नहीं था। इसलिए उसका कोई जगत भी नहीं था।** समानान्तर रूप से स्वप्न में वह नाम-रूप की देह की अवचेतना में देह व जगत की सृष्टि में सब कुछ था। वह न होता, तो स्वप्न कैसे याद रहता ! वह सोया हुआ था, इसीलिए सपना देखा और स्वप्न में बहुत सुखी-दुःखी हुआ। निद्रा में ही उठकर स्वप्न की नाम-रूपात्मक सृष्टि में भटका। तथाकथित जाग्रतावस्था में स्वप्न का कुछ नहीं रहा, लेकिन वह मानसिकता साथ रहती है। न वह स्वप्न वाला व्यक्ति रहता है, न जगत रहता है, लेकिन उसकी सुख-दुःखमयी स्थितियों से प्रभावित मानसिकता रहती है। **'मैं' (जीवात्मा) नाम-रूप की देह की अवचेतना में जीव बना हुआ, देह और विभिन्न नाम-रूपात्मक जगत के विभिन्न स्वप्नों का ऐसा दृष्टा है, जिसमें उसे ज्ञान नहीं होता, कि वह स्वप्न देख रहा है।** इसी प्रकार विभिन्न स्वप्नों की अवचेतनामयी मानसिकता में भटकते जीव को जगाने के लिए परम कृपालु सद्‌गुरु नाम-रूप की देह में प्रकट होकर उसे उसकी विभिन्न निद्राएँ दिखा देता है, कि–**उत्तिष्ठ-जाग्रत।** स्वप्नावस्था से

उठकर इस तथाकथित जागृति में अपनी निद्रा को पहचान (Observation), देख (Visualisation) और उसकी अनुभूति (Realisation) कर।

निद्रा स्वयं में दो प्रकार की है—एक **स्वतः व प्राकृतिक निद्रा** और दूसरी **नींद की गोलियों व नशे आदि के द्वारा निर्मित नींद** (Induced Sleep). ये दोनों मानसिकताएँ हैं, जिनमें स्वप्न चलता है, तो यह ज्ञान नहीं होता, कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। क्योंकि निद्रा की स्थिति का ज्ञान ही नहीं होता। प्राकृतिक निद्रा और नींद की गोलियों अथवा नशे आदि द्वारा निर्मित निद्रा की दोनों मानसिकताओं को मैं एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा। महाराजा रणजीत सिंह की एक सुसज्जित हाथी पर सवारी निकल रही थी, इसी समय एक भांड (मरासी) नशे में धुत अवस्था में सम्मुख आया। उसने राजा की सवारी को सामने से रोका और अकड़ कर कहा—"ओ काणे ! बता इस गधी का क्या दाम लेगा।" नशे की उस मानसिकता में वह राजा को काणा और सुसज्जित हाथी को गधी देखते हुए उसका सौदा करना चाहता है। वह मरासी अपने नाम-रूप की अवचेतना में है, इसलिए उसका जगत वैसा है जैसा वह स्वयं है। उसकी सम्यक् दृष्टि व ज्ञान लुप्त सा ही है। राजा रणजीत सिंह ने सिपाहियों के द्वारा उसे सुबह दरबार में आकर सौदा करने को कहा। **यहाँ राजा की प्राकृतिक निद्रा की मानसिकता जगत में सम्यक् दृष्टि व ज्ञान बनकर प्रकट हुई तथा नशे की अवस्था में उस मरासी की ऊट-पटांग सी मानसिकता निर्मित निद्रा (Induced Sleep) की है।** दोनों ही नींद में स्वप्न देख रहे हैं और दोनों को यह ज्ञान नहीं है, कि यह सपना है। लेकिन नाम-रूप की देह की अवचेतना पृथक्-पृथक् मानसिकता पर आधारित है। जिसकी इस स्वप्न जगत में सम्यक् दृष्टि है और जिसकी सम्यक् दृष्टि नहीं है, दोनों निद्रा में हैं और दोनों को पता नहीं है, कि वे स्वप्न में हैं। इस प्रकार देह और जगत नाम-रूप की देह की अवचेतना में होता है, जो उस समय की निद्रा की मानसिकता पर आधारित रहता है। ये मानसिकताएँ उस समय की निद्रा अथवा Nothingness के कारण थीं। जगत सपना है, जो निद्रा (जहाँ नाम-रूपों में

जगत है ही नहीं) से प्रकट हुआ है। यह **निद्रा पाँच प्रकार की है– 1. स्वतः या प्राकृतिक निद्रा (जड़ता) 2. नशे की अवस्था अथवा नींद की गोलियों से निर्मित निद्रा (घोर जड़ता) 3. निद्रा योग (समाधि) 4. मृत्यु योग (अमरत्व) 5. भस्मीयोग (शिवत्व)।**

प्राकृतिक निद्रा और Induced निद्रा दोनों को शास्त्र ने जड़ता कहा है। लेकिन नशे आदि द्वारा निर्मित निद्रा घोर जड़ता व घोर पाप है। **प्राकृतिक निद्रा से उठे व्यक्ति को यह तो ज्ञान होगा, कि मैं सो रहा था, वह सपना था और सपने में मुझे यह ज्ञान नहीं था, कि यह सपना है। वह कभी न कभी चेतनता में आ जाएगा।** लेकिन सांसारिक भौतिकता में लिप्त दारू पीकर अथवा नींद की गोलियाँ खाकर सोने वाले निद्रा में निद्रा निर्मित करते हैं। इस निद्रा से चेतनता में आना असम्भव है। निद्रा योग में योगी **'समाधि में'** अपनी निद्रा की स्थिति को देखता है। देह सहित सारा जगत नाम-रूप की देह की अवचेतना में ही प्रकट होता है। Visualisation of non-consciousness is awareness. योगी जान जाता है, कि समस्त जगत जो नाम-रूप की अवचेतना में है, वह मेरे नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होने से है। यह स्वप्न है, जो सुषुप्ति में चलता है। इसका ज्ञान स्वप्न देखते समय योगी को हो जाता है। **अपनी निद्रा को देखकर योगी जाग्रत हो जाता है 'कुछ नहीं' की अनुभूति 'मैं' की जागृति है। Nothingness के ज्ञान के बाद Everything के 'सद्' का ज्ञान हुआ कि यह सपना है। 'मैं' (जीवात्मा) एक ही हूँ। फिर 'मैं' (जीवात्मा) उस जगत का भरपूर आनन्द लेता हूँ।** जगत का आनन्द वही ले सकता है, जिसे ज्ञान हो जाए, कि यह सपना है। **योगी की निद्रा वह समाधि स्थिति है, जिसमें वह अपनी चेतनता में अवचेतन देह व जगत दोनों का आनन्द लेता है। इसे जागृति कहा गया है।**

'मृत्यु योग' में योगी समाधि में अपनी मृत्यु को देख लेता है, जहाँ से पुनः नाम-रूप की देह में लौटा ही नहीं जाता। निद्रा से जागकर जीवात्मा पुनः नाम-रूप की देह में जाग्रत होता है, लेकिन 'मृत्यु योग' में नाम-रूप की

देह व जगत का लय हो जाता है, यह स्थिति **अमरत्व** की द्योतक है। योगी मृत्यु योग की इस समाधि से जब जागता है, तो उसकी सृष्टि **अमरत्व** वाली होती है। इसमें उसकी देह देवतुल्य, जन्म-मृत्युरहित व पाप-पुण्यरहित हो जाती है। **जो वह बना और जो उसके द्वारा हुआ, वह अमर होता है। उसके द्वारा हो रहे कृत्य अमर रहते हैं, उसके श्रीमुख से निःसृत शब्द अमर होते हैं, उसके श्रोता व श्रद्धालु अमर हो जाते हैं। शिव के मुख से अमर कथा सुनकर कबूतर अमर हो गया।** जो मृत्यु को देख रहा है, वह **अमर** है। जो निद्रा को देख रहा है, वह **जाग्रत** है। जो निद्रा को नहीं देख रहा, वह **सोया हुआ** है। इसमें दूसरा, निद्रा से घोर निद्रा में नशे के कारण चला गया। इन सबकी सृष्टि वैसी ही होगी, जैसी उनकी मानसिकता है। इन चारों सृष्टियों का रचयिता परमात्मा है। **'मैं'** (जीवात्मा) मात्र दृष्टा है। वह चारों में से किस मानसिकता से देख रहा है, यह **समाधि स्थितियों** पर निर्भर है।

अन्तिम है—**'भस्मी योग',** यहाँ नाम-रूप, लाभ-हानि, जन्म-मरण व माया के तीनों गुण, कुछ नहीं होता। यहाँ योगी ध्यान-समाधि में अपनी देह को भस्मित देखता है। जिसने स्वयं की भस्मी को देख लिया, उसकी देह शिव-स्वरूपा हो जाती है:—

'निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।
सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(11 जनवरी और 7 अप्रैल 2007)

उत्तिष्ठ-जाग्रत

(भाग 5)

जब हम ईश्वर से नहीं जुड़ते अथवा अपने स्वरूप का चिन्तन नहीं करते, तो हम जागते हुए भी मोह (अज्ञान) की निद्रा में सो रहे होते हैं, साथ ही अपनी सुषुप्ति का हमें ज्ञान भी नहीं होता। इसलिए यह ज्ञान नहीं होता, कि जगत सपना है। जो कुछ भी मैं देख, सुन, सूँघ, चख और स्पर्श कर रहा हूँ, वह सब कुछ स्वप्न में ही हो रहा है। जन्म-मृत्यु, लेना-देना, व्यवहार-मर्यादाएँ, मित्रता-शत्रुता, सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सम्बन्ध-असम्बन्ध, उन्नति-अवनति, पाप-पुण्य, चतुरता-मूर्खता, प्रारब्ध-बन्धन, रोग-दोष, आधि-व्याधि-उपाधि, मल-विक्षेप एवं आवरण आदि तब तक रहेंगे ही, जब तक मुझे यह ज्ञान नहीं होगा, कि मैं सोया हुआ हूँ और यह सब स्वप्न है। **सुषुप्ति का ज्ञान ही समाधि है।** किसी भी प्रकार **'मैं'** (जीवात्मा) देह के रहते अपनी सुषुप्तावस्था की मानसिक स्थिति की जागृति में अनुभूति कर लूँ, यही मानव-देह धारण करके जीवन में मेरा लक्ष्य होना चाहिए।

हम सब अपनी आँखें बंद करके सोते हैं। कोई भी स्वप्न सुषुप्ति में ही आता है। कुछ भी देखने के लिए आँखें खुली होनी चाहिए। **आँखें बंद करके सोते हुए यह मालूम नहीं, कि यह सुषुप्ति है, इसीलिए स्वप्न देखते हुए यह ज्ञान नहीं होता, कि यह स्वप्न है।** जब हमारी बाह्य आँखें बन्द हो जाएँगी, तो हमारे अन्तःचक्षु खुल जाएँगे, जिनसे हम अपनी सुषुप्ति देख पाएँगे, यही **'समाधि'** है। सद्गुरु-कृपा से ही अन्तर्दृष्टि खुलती है। उस अन्तर्दृष्टि से सुषुप्ति की अवस्था की अनुभूति सम्भव होगी।

बाह्य दृष्टि सुषुप्ति को नहीं देख सकती, इसलिए यह ज्ञान नहीं है, कि यह सब कुछ स्वप्न है। सद्-श्रवण, सद्-चिन्तन, सद्-मनन मात्र कृपा-साध्य है। **सद्-अनुसरण किसी के हाथ में नहीं होता। सद्-दर्शन अन्तिम विषय है, जो मात्र और मात्र सद्गुरु-कृपा से ही हो सकता है।** इसमें अपनी मानसिक स्थिति का आकलन हम स्वयं ही कर सकते हैं, जिसके लिए अपने साथ बहुत ईमानदारी की आवश्यकता है। श्रद्धा, विश्वास के साथ हमारी **नीयत** का **'सद्'** होना भी आवश्यक है।

सुषुप्ति, स्वप्नावस्था, तथाकथित जाग्रतावस्था—मानवीय-मन की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। निद्रा से जागकर मुझे यह ज्ञात होता है, कि सुषुप्ति में मैंने जो देखा, वह स्वप्न था और यह ज्ञात नहीं होता, कि अब जो देख रहा हूँ, वह भी स्वप्न है। **मुझे यह भी ज्ञान है, कि सुषुप्ति के दौरान स्वप्न देखते हुए मुझे यह ज्ञान नहीं था, कि यह सपना है, क्योंकि मैं सोया हुआ था।** सद्गुरु मुझे आश्वस्त कर देता है, कि बेटा ! तुम अब भी सो रहे हो और दूसरे स्वप्न में ऐसे ही उठे हुए हो, जैसे पहले स्वप्न में उठे हुए थे।

सद्गुरु स्पष्ट करता है, कि स्वप्न देखते समय तुम्हें यह ज्ञान नहीं था, कि तुम सोए हुए हो। इसीलिए यह भी ज्ञान नहीं था, कि तुम सपना देख रहे हो। लेकिन अब तुम्हें **ज्ञान** है, कि तुम **सोए हुए थे** और जो तुमने देखा वह **सपना** ही **था।** लेकिन अब तथाकथित जागकर तुम दूसरे स्वप्न में हो और अपनी निद्रा का तुम्हें ज्ञान नहीं है। **तो स्वप्नावस्था के ज्ञान को तथाकथित जाग्रतावस्था के इस अज्ञान पर हावी कर दो।** यह मानवीय चेतना का **अज्ञान-ज्ञान** है। जहाँ नाम-रूप की देह के अध्यास में भ्रमित जीवात्मा को **ज्ञान** होता है, कि स्वप्नावस्था में जो देखा वह स्वप्न था तथा उसे देखते समय वह स्वप्न नहीं था। लेकिन उसे **अज्ञान** है, कि अब भी वह सो रहा है और जो देख रहा है, वह भी स्वप्न है। अतः सद्गुरु कहते हैं, कि उस समय के ज्ञान को इस अज्ञान पर हावी (Impose) कर दो, तो तुम्हें स्वप्न के चलते हुए यह **ज्ञान** हो जाएगा, कि यह सपना है।

सद्गुरु पुनः स्पष्ट करते हैं, निद्रा से उठकर तुझे यह **ज्ञान** है, कि वह

सपना था और यह **अज्ञान** है, कि यह भी सपना है। तुझे **ज्ञान** है, कि तू सोया हुआ था और तुझे **अज्ञान** है, कि तू अब भी सोया हुआ है। तुमने जो देखा उसका ज्ञान है, लेकिन जो देख रहे हो, उसका ज्ञान नहीं है, क्योंकि तुमने अपनी निद्रा नहीं देखी। इस समय यदि हम अपनी नींद देख लें, यानि निद्रा की अनुभूति कर लें तो हमें **ज्ञान** हो जाएगा, कि जगत सपना है।

मैं रात को सोता हूँ, स्वप्न देखता हूँ और सुबह उठकर स्वप्न का वर्णन करते हुए उस पर विचार करता हूँ। मुझे स्वप्न की स्मृति होती है, लेकिन निद्रा की स्मृति नहीं होती। लेकिन मैं जानता हूँ, कि वह स्वप्न ही था, क्योंकि मैं सोया हुआ था। अब मैं उठा हूँ, तो मुझे यह ज्ञान भी होता है, कि स्वप्न देखते हुए मुझे यह ज्ञान नहीं था, कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। **सद्गुरु कहते हैं, कि यह ज्ञान भी तुम्हें स्वप्न में ही है।** तुम अब भी सोए हुए हो। क्योंकि तुम अब भी स्वयं को उस स्वप्न वाली देह के नाम-रूप से पहचान रहे हो। जिस प्रकार उस समय तुम्हें यह ज्ञान नहीं था, कि तुम सोए हुए हो, इसी प्रकार अब भी तुम्हें ज्ञान नहीं है, कि तुम सोए हुए हो। एक तो तुम्हें अब भी निद्रा का ज्ञान नहीं है, दूसरे यह भी ज्ञान नहीं है, कि तुम अब भी स्वप्न ही देख रहे हो। **लेकिन तुम्हें यह ज्ञान है, कि पहले जो तुमने देखा, वह स्वप्न था (तुम सोए हुए थे) और यह भी ज्ञान है, स्वप्न के दौरान तुम्हें यह ज्ञान नहीं था, कि यह स्वप्न है।**

सुषुप्तावस्था से तथाकथित जाग्रत होकर मुझे तीन ज्ञान होते हैं– 1. **'मैं'** (जीवात्मा) सोया हुआ था 2. मैंने जो देखा वह स्वप्न था और 3. स्वप्न देखने के दौरान मुझे यह ज्ञान नहीं था, कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। क्योंकि मुझे अपनी सुषुप्ति का ज्ञान नहीं था। परन्तु यह तीन ज्ञान मुझे स्वप्न में ही होते हैं। **'मैं'** (जीवात्मा) निद्रा से उठकर सद्गुरु के पास अपने स्वप्न का अर्थ जानने के लिए जाता हूँ। कहता हूँ, कि मुझे मालूम है, कि मैं सोया हुआ था, जो मैंने देखा वह स्वप्न था और मुझे यह भी ज्ञान है, कि स्वप्न देखते समय मेरे लिए वह स्वप्न नहीं था। सद्गुरु कहते हैं, अपने उस अज्ञान का तुझे अब ज्ञान है, लेकिन इस समय भी तुम अज्ञान (सुषुप्ति) में हो

इसका तुम्हें ज्ञान नहीं है। साथ ही यह ज्ञान है, कि जो तुमने देखा वह सपना था, क्योंकि तुम सौ फीसदी आश्वस्त हो, कि तुम सोए हुए थे। इसीलिए स्वप्न देखते समय वह सब तुम्हारे लिए सपना नहीं था। उसी का अर्थ पूछने आए हो। लेकिन तुम अब भी सोए हुए हो। यह तुम्हारा दूसरा स्वप्न है, जिसमें तुम पहले स्वप्न का अर्थ जानना चाहते हो। तुम अब भी स्वप्न में ही विचर रहे हो, जिसका तुम्हें ज्ञान उसी प्रकार नहीं है, जैसेकि स्वप्न देखते समय नहीं था। तुम अब भी स्वयं को स्वप्न वाली देह के नाम-रूप से पहचान रहे हो। इसीलिए उसका **'अर्थ'** जानना चाहते हो। उसका अर्थ ही **'कुछ नहीं'** है।

'मैं' (जीवात्मा) आश्वस्त नहीं होता, इसीलिए पुनः वही कुछ जानना चाहता हूँ। **दो-तीन पैग शराब पीने अथवा कोई अन्य नशा करने के बाद मेरी अपनी अज्ञान के विषय में जानने की इच्छा ही नहीं रहती।** इसे शास्त्र ने **घोर जड़ता या पशुता** कहा है। हम अपने अज्ञान से राहत नहीं पाना चाहते। **तथाकथित जाग्रातवस्था में उठकर अपनी वास्तविक जागृति नहीं चाहते। तथाकथित जाग्रतावस्था में हमारे उठने की दो स्थितियाँ हैं-एक उठने में यह ज्ञान नहीं होता, कि 'मैं' (जीवात्मा) सोया हुआ हूँ और स्वप्न में ही उठा हुआ हूँ, यह जड़ता है। दूसरी स्थिति वह है, जब मैं नशे आदि की मोह-निद्रा में मोहित हुआ यह जानना भी नहीं चाहता, कि यह स्वप्न है। मानव-देह धारण करके यह घोर जड़ता है। मुझे केवल उठना नहीं है, बल्कि जागना है**। जागृति के कुछ सोपान हैं– **जप-तप, प्राणायाम, ध्यान, यज्ञ-हवन** कुछ तो सद्‌गुरु के निर्देशानुसार करना होगा। भौतिक उपलब्धियों एवं मायिक प्राप्तियों के नशे में चूर व्यक्ति को सद्‌गुरु क्या दिशा-निर्देश दे सकता है!

अपने अज्ञान (निद्रा की स्मृति न होना) का ज्ञान होते हुए भी यह ज्ञान होना, कि मैं सोया हुआ था और वह सपना ही था तथा स्वप्न देखते समय मेरे लिए वह सपना नहीं था, यदि **'मैं'** (जीवात्मा) देह के नाम-रूप की अवचेतना की मोह-निद्रा में नशा आदि करके अथवा देहासक्तिवश अज्ञान

को ज्ञान मान लूँ और जानना ही न चाहूँ, तो मानव-देह धारण करके यह जड़ता घोर पाप है। **नशा करके जीव जड़ हो जाता है।** वह स्वप्न, सुषुप्ति, तथाकथित जागृति किसी का अर्थ जानना ही नहीं चाहता। जड़ता में अज्ञान को ज्ञान मानकर अधोगति को प्राप्त करके जीव-सृष्टि में जन्म-जन्मान्तरों के काल-चक्र में भटकता रहता है।

हम सब अधिकतर नशई हैं। संसार, पद-प्रतिष्ठा, व्यवसाय आदि में हुए तथाकथित लाभ एवं उन्नति को ही जीवन की सार्थकता माने हुए हैं। दुकानों के चमक-दमक से पूर्ण बोर्ड बनाते हैं। तरह-तरह के झूठे-सच्चे विज्ञापनों द्वारा आम जनता को भ्रमित करके व्यापार को बढ़ाने में ही अपनी उन्नति मान रहे हैं। यदि कोई समझाना भी चाहे, कि सद्‌गुरु महाराज ने **'सद्-असद्'** बताया था, तो यही उत्तर देते हैं, कि यह सद्-असद् तो ठीक है, लेकिन बुढ़ापे में देख लेंगे। **तथाकथित जागृति में भी स्वप्न से, स्वप्न को ढकने के लिए हम नशे आदि का सहारा लेते हैं, यह जड़ता घोर पाप एवं पशुता है।** इस जड़ता में हम आपे से बाहर हो जाते हैं। हम जानना ही नहीं चाहते, जो हमें जानना चाहिए।

योगी और भोगी दोनों आपे से बाहर होते हैं। दोनों का आपा उनसे भिन्न व्यवहार करता है। भोगी जब आपे में लौट कर आता है, तो उसे आत्म-ग्लानि होती है (यदि होती है तो)। उसका आपा उसे दुत्कारता है। देह उससे घृणा करती है। देह अपने इस अपमान को बरदाश्त नहीं करती। भोगी के भोग ही उसे भोग जाते हैं और वह अनेक रोगों, दोषों से घिर जाता है। परिवार, सगे-सम्बन्धी सब उससे दूर हो जाते हैं। योगी जब अपनी देह के आपे में आता है, तो देह सुगन्धित हो जाती है। उसका स्वागत करती है। उसकी देह उससे प्यार करती है। **भोगी को यदि आत्म-ग्लानि होती है, तो आत्मग्लानि उसे आत्मोत्थान की ओर ले जाती है।** यदि आत्म-ग्लानि नहीं है, तो सद्‌गुरु भी उसे प्रणाम कर देता है, कि अब तू जा, बहुत उन्नति कर और व्यापार बढ़ा। मेरे पास आकर अपना वक्त बरबाद मत किया कर।

मानव-देह ईश्वर ने हमें एक विशेष उद्देश्य से दी है। वह चाहता तो हमें

गधा, घोड़ा, सांप, बिच्छु, कीड़ा कुछ भी बना सकता था। पशुओं की लाइफ से भिन्न हमारा मानव-जीवन भी हो जाए, इसीलिए ईश्वर ने मुझ जीवात्मा को मानव-देह दी है। पशुओं का जीवन नहीं होता, मात्र life होती है। क्योंकि वे आहार, निद्रा, भय, मैथुन में life बिताते हुए मर जाते हैं। लेकिन मानव को प्रभु ने मानव-जीवन दिया है। जीव+न=जीवन, मैं जीव नहीं हूँ, मैं जीवात्मा हूँ। यदि किसी को नहीं मालूम जीवन कैसे जीना है, तो उसका क्या अपराध है। वह कम से कम सद्गुरु की शरण में तो चला जाए और उसकी आज्ञा में तो रहे। वह मान ले, कि प्रभु आपकी बात बिल्कुल ठीक है, **कि मैं निद्रा में स्वप्न देखते हुए उठा हुआ था, लेकिन तब न मुझे अपनी निद्रा का ज्ञान था और न ही यह ज्ञान था, कि यह स्वप्न देख रहा हूँ। लगभग वही स्थिति इस तथाकथित जाग्रतावस्था में भी है। यह भी सपना हो सकता है !** अब मुझे बताइए, कि इस निद्रा से मैं कैसे जागूँ।

मैं अपनी सुषुप्ति को न तब देख पाया और न अब देख पा रहा हूँ। मैं अपनी सुषुप्ति की अनुभूति नहीं कर सकता। आप मुझ पर कृपा करो, ताकि मैं अपनी सुषुप्ति की Realisation करूँ। सद्गुरु उसे किसी भी प्रकार से उसके स्वभाव के अनुरूप कुछ प्रकरण करवा कर, उसकी नाम-रूप की देह से परे जीवात्मा स्वरूप की अनुभूति करवा देता है। उसे समाधि में ले जाता है और उसे अपनी निद्रा की आनन्दमय मानसिकता की अनुभूति हो जाती है। **तब उसका जगत का यह स्वप्न टूटता नहीं है, बल्कि सब कुछ देखते हुए यह अनुभूति हो जाती है, कि यह स्वप्न है।** उसके रोग-दोष, पाप-पुण्य, लाभ-हानि, जन्म-मरण, यश-अपयश सब समाप्त हो जाते हैं। **मोह-निद्रा टूट जाती है तथा जीवन आनन्दमय हो जाता है।**

सद्गुरु-कृपा से **'मैं'** (जीवात्मा) जान जाता हूँ, कि मैं नाम-रूप की एक देह में एक से अनेक हुआ हूँ और अनेकों **'मैं'** (जीवात्मा स्वरूप) एक ही हूँ। वह एक देह भी **'मैं'** नहीं हूँ। वह एक नाम-रूप की देह प्रभु ने मुझ जीवात्मा को अपनी समस्त साकार सृष्टि के आनन्दमय अधिग्रहण एवं प्रस्तुतिकरण के लिए दी है। वह स्वप्न वाली देह मैं नहीं हूँ। वह समस्त

सृष्टि मेरे एक नाम-रूप की देह पर आधारित थी। मेरे जाग्रत होने और मेरी स्वप्न वाली एक नाम-रूप की देह के लय होते ही वह समस्त नाम-रूपात्मक सृष्टि भी समाप्त हो गई। **निद्रावस्था में न मुझे अपनी देह का ज्ञान होता है और न ही जगत का ज्ञान होता है, लेकिन साथ ही अपना ज्ञान भी नहीं होता।** इसे शास्त्र ने खोना कहा है:–

''उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो सोवत है सो खोवत है जो जागत है सो पावत है।
उठ नींद से अँखियाँ खोल ज़रा और अपने प्रभु का ध्यान लगा।
ये प्रीत करन की रीत नहीं प्रभु जागत है तू सोवत है।''

सद्गुरु अपने सद्शिष्य को कहता है–**उत्तिष्ठ-जाग्रत !** बेटा, तेरा जीवात्मा स्वरूप अब भी सोया हुआ है। वह स्वरूप सोया रहा, तो इस स्वप्नवत् संसार में तू मानव-देहधारी होते हुए भी पशु की तरह life बिता कर मर जाएगा। उन्हें इसकी चेतना ही प्रभु ने नहीं दी, वे प्रकृति के वशीभूत हैं। पशु-पक्षी नींद से उठते हैं, लेकिन वे जाग नहीं सकते। तू मानव है, तू प्रकृति का बाध कर सकता है। अब तू जागने के लिए नेत्र बंद कर और अपने प्रभु में ध्यान लगा। **यह जागृति ही तेरी आत्म-जागृति है। आँखें खोल,** नींद से **'उठ'** और **आँखें बन्द** करके **'जाग'**। पहले तूने सोने के लिए आँखें बन्द कीं, अब नींद से उठकर, तू जागने के लिए आँखें बन्द कर। मानव-देह धारण करके मनुष्य कहलाने के लिए यह परम आवश्यक है। **पहले सुषुप्तावस्था से तथाकथित जागने के लिए आँखें खुली थीं और अब पूर्ण जागृति के बाद अन्तर्दृष्टि मिलने पर जब यह बाह्य चक्षु खुलेंगे, तो आँखों में अन्तर आ जाएगा। अब इन आँखों से तुझे हर ओर अपना इष्ट ही नज़र आएगा।** इस दृष्टि से जो देखेगा, उसकी **स्मृति** नहीं होगी, वह **अनुभूति** होगी। जाग्रत होकर जब जगत को देखा, तो वह अनिर्वचनीय अनुभूति है।

पहले **'मैं'** (जीवात्मा) सोया हुआ था और स्वप्न देखा, लेकिन मालूम नहीं था, कि मैं सोया हुआ हूँ। इसलिए जो कुछ देखा, देखते समय यह ज्ञान

नहीं था, कि यह स्वप्न है। सब कुछ उट-पटांग देखा, जैसेकि तथाकथित जाग्रतावस्था में भी देखता रहा हूँ। अब पूर्ण जागृति के लिए नेत्र पुनः बन्द किए अपनी निद्रा को देखा, तो जगत को देखने के लिए जब नेत्र खुलेंगे, तब वे नेत्र जागृति के होंगे। सुषुप्ति के नेत्रों से तो पुनः स्वप्न ही दीखेगा, जो देखते समय मालूम नहीं होगा, कि स्वप्न है। क्योंकि अपनी निद्रा नहीं देखी। **एक नेत्र वे हैं, जो सुषुप्ति में खुलते हैं। सपना भी हम देखते हैं, लेकिन हमारे बाह्य चक्षु बन्द होते हैं।** क्योंकि हम सो रहे होते हैं। अतः सपना सुषुप्ति वाली आँखों से देखते हैं। **चर्म चक्षु,** वे भी बन्द और उसमें जो देखा, उसी के **अर्थ** में लगे हुए हम निरर्थ, व्यर्थ, अनर्थ में अधोगति को प्राप्त होते रहते हैं। ये निद्रा की आँखें अपनी सुषुप्ति को देख नहीं सकतीं और खुलने पर तथाकथित जागृति को ही अपनी जागृति मान लेती हैं।

सुषुप्ति की स्मृति भी नहीं रहती और स्मृति मात्र उसकी रहती है, जो सोई हुई आँखों से स्वप्न में देखा। अब ये नेत्र बन्द करके समाधि, ध्यान, जप-तप द्वारा जीवात्मा जाग गया। अब जब जागा, तो वे जाग्रत आँखें थीं। इन्हें शास्त्र ने **प्रज्ञा चक्षु** कहा है। जब ये बाह्य चर्म चक्षु समाधि में बन्द होते हैं, तो प्रज्ञा चक्षु खुल जाते हैं। अब वह जगत को जाग्रत आँखों से देखता है एवं साथ ही साथ अपनी निद्रा को देखता है। उसे ज्ञान हो जाता है, कि जगत निद्रा या Nothingness से Erupt, Sprut और Manifest हुआ है। तब यह जगत प्रभु की लीला-स्थली बन जाता है। वह निर्माण, पालन व संहार की हर विधा का आनन्द लेता है और वाह-वाह करता है। **इस सोपान पर जीवात्मा आसक्ति और विरक्ति दोनों का स्वामी होता है।** जिसने निद्रा देख ली, वह विरक्त होगा और फिर जब वह संसार को देखेगा, तो आसक्ति का भी आनन्द लेगा। जीवात्मा जगत का रहस्य जान जाता है, कि यह निद्रा या Nothingness से समय-समय पर Erupt, Sprut और Manifest होता है तथा लय होता रहता है। **शास्त्र ने जगत को वंध्या-सुत कहा है।**

हम सब अपनी आँखें बन्द करके सोते हैं। फिर भी कहते हैं, कि मैंने सपना देखा। सद्‌गुरु कहता है, नींद से उठकर आँखें बन्द कर। तू अपनी

निद्रा देख, लेकिन सोना मत। सद्गुरु अपने सद्शिष्य को सुषुप्तावस्था की मानसिक स्थिति की अनुभूति की विधि बताता है। नींद से उठकर अपने अन्तर्चक्षुओं को जाग्रत करने के लिए और अपनी निद्रा की अनुभूति के लिए तुझे पुनः ये बाह्य चक्षु बन्द करने होंगे। **सोने के लिए आँखें बन्द की जाती हैं और जागने के लिए भी आँखें बन्द की जाती हैं।** पूर्ण जागृति के लिए वे चक्षु चाहिएं, जो बाह्य चक्षुओं के बन्द करने के बाद देखते हैं। वे कर्ण चाहिए, जो कान बन्द करने के बाद सुनते हैं। वह नासिका चाहिए, जो नाक बन्द करने के बाद सूँघती है। वह जिह्वा चाहिए, जो जीभ को शान्त करने के बाद जाग्रत होती है। यह वह बिन्दु है, जहाँ से समाधि की धारणा हमारे मनीषियों को हुई।

निद्रा से तथाकथित जाग कर पूर्ण जागृति के लिए ये बाह्य नेत्र समाधि में बन्द किए जाते हैं। तब योगी संसार को नहीं, अपनी निद्रावस्था, मृतकावस्था (चिरनिद्रा) और भस्मावस्था को देखता है। निद्रावस्था को देखना उसकी **जागृति** है, मृतकावस्था को देखना उसका **अमरत्व** है और भस्मावस्था को देखना उसका **शिवत्व** होता है :–

''निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्
सच्चिदानन्दोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

इसके बाद का आनन्द अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय है। उसके बाद ईश-सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है और जीव-सृष्टि समाप्त हो जाती है। यही इस समस्त नाम-रूपात्मक एवं असद् मायिक सृष्टि का **'सद्'** है। फिर मुझे ज्ञान हो जाता है, कि मैं जो कर रहा हूँ, वह मुझ से करवाया जा रहा है अतः वह सब हो रहा है और जो हो रहा है, वह हो चुका है। परमात्मा द्वारा स्वतः निर्मित, पालित व संहारित सृष्टि का **'मैं'** (जीवात्मा) मात्र दृष्टा हूँ। **यह समस्त प्रकरण मात्र कृपा-साध्य है।**

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(24 से 27 मार्च, 2007)

उत्तिष्ठ-जाग्रत

(भाग 6)

देवाधिदेव महादेव सद् के स्रोत हैं, स्वयं में परम सद् हैं। जिनका हर पल, हर मौन, हर उच्चारण सद् है, वे महामाया जगदम्बा से कहते हैं:–

''उमा कहहुँ मैं अनुभव अपना,
'सद् हरि भजन' 'जगत सब सपना'।''

भगवान शंकर ने जगत को नकारा एवं उपेक्षित नहीं किया। जगत है, लेकिन स्वप्न है। इस महासूत्र का हम विश्लेषण करें, तो यहाँ **हरि भजन** का विशेष रूप से सर्वोपरि महात्म्य बताया गया है। **हरि भजन सद् है, यदि हमें हरि भजन का सद् अनुभूतिगम्य हो जाए तभी जगत की स्वप्नवत् प्रतीति होगी।** अन्यथा जगत जो सपना है, वह सपना नहीं लगेगा। हमारे समस्त कष्टों, पीड़ाओं, आधि-व्याधि-उपाधि, मल-विक्षेप- आवरण का एकमात्र कारण यही है, कि जगत के स्वप्नत्व का हमें ज्ञान नहीं है। यदि ज्ञान है भी, तो बौद्धिक स्तर पर है, उसकी अनुभूति नहीं है।

मेरे जगत का स्वरूप क्या है? **मेरी मान्यताओं, धारणाओं, ख्वाबों, ख्यालों, कल्पनाओं, दिल, दिमाग एवं रूह में काल की तीनों विधाओं (भूत, भविष्य, वर्तमान) की मेरी देह सहित जितनी चराचर सृष्टि है, वह मेरा जगत है।** जब मैं अपनी देह को नाम-रूप की अवचेतना में पहचानता हूँ, तो तुरन्त उसके साथ स्वतः **देह सहित जगत** का प्रकाट्य होता है। **जैसेकि स्विच ऑन होने पर बल्ब के प्रकाशित होते ही उस बल्ब सहित कक्ष की समस्त वस्तुएँ प्रकाशित हो जाती हैं। स्विच ऑफ होने पर**

अन्धकार में बल्ब भी दिखाई नहीं देता। स्विच ऑन होने पर बल्ब ही उस बल्ब सहित समस्त कक्ष के प्रकाशित होने का आधार होता है। कक्ष की समस्त प्रकाशित वस्तुओं में वह बल्ब **भी** होता है। यही सूत्र मैं और मेरे जगत पर भी लागू होता है। देह को नाम-रूप की अवचेतना में पहचानते ही मानों मेरी बल्ब रूपी देह का स्विच ऑन हो जाता है। तब मेरी देह सहित जगत उसी प्रकार प्रकट हो जाता है, जैसेकि स्विच ऑन होते ही बल्ब सहित समस्त कक्ष प्रकाशित हुआ था। **मेरी देह और जगत में अद्वैत है, परन्तु अज्ञानवश उस अद्वैत में द्वैत सा आभास होता है।** मुझ (जीवात्मा) में समाहित मेरा सम्पूर्ण जगत जब मेरी देह सहित प्रकट होता है, तो मैं देखता हूँ। जब वह जगत प्रकट होगा, तो उसमें मेरी एक देह **भी** होगी और समस्त साकार प्रकाट्य का आधार वह देह **ही** होगी। जीवात्मा, जो **स्रष्टा** देवाधिदेव महादेव परम पिता परमेश्वर का एकमात्र मानस-पुत्र है और अपने पिता द्वारा निर्मित, पालित और संहारित **सृष्टि** का **दृष्टा** है।

जगत का यही स्वरूप है, जो सपना है। **जीवात्मा का निराकार मानस जिसमें उसकी देह सहित जगत समाहित है, किसी भी मायिक विधा या चैनल में बना-बनाया स्वतः प्रकट तब होता है, जब जीवात्मा स्वयं को एक नाम-रूप की देह की अवचेतना में पहचानता है।** यहाँ जीवात्मा मायावश भ्रमित हो गया और उसने अज्ञानवश एक नाम-रूप की देह को अपना स्वरूप मान लिया। उसी क्षण से वह जीवात्मा से जीव बनकर अधोगति को प्राप्त होने लगा। क्योंकि **जब जगत प्रकट हुआ, उसमें उससे दो भंयकर भूलें हो गईं—एक** तो उसने देह सहित जगत जहाँ समाहित था, उस निराकार मानस को अपना स्वरूप मानने की बजाय प्रकट जगत में एक नाम-रूप की देह को अपना स्वरूप मान लिया। **दूसरे,** समस्त प्रकट जगत में देह को अलग और जगत को अलग मान लिया। मानस की एक ही मायिक चैनल या विधा से खेल चल रहा था, लेकिन भ्रमवश **मैं** (जीवात्मा) ने देह को अपना स्वरूप मानते हुए जगत को स्वयं से भिन्न मान लिया। जिस निराकार मानस से प्रकाट्य होता है, वह प्रकाट्य देह के रूप

में मेरे हाथ में नहीं था। मैं अध्यात्म के इस अति गोपनीय एवं परम रहस्यमय सूत्र का विश्लेषण रात्रि में देखे गए स्वप्न के आधार पर करूँगा। आपकी विशिष्ट श्रद्धा एवं अति एकाग्रता वांछनीय है।

मैं, सुबह उठकर रात्रि में देखे गए स्वप्न का वर्णन करता हूँ। मुझे सपना आया, कि मैं अमुक जंगल में अपने कुछ साथियों के साथ घूम रहा था। अचानक घनघोर बादल छा गए, खूब गरज के साथ मूसलाधार वर्षा होने लगी। मैंने देखा, कि मेरे साथी मुझे अकेला छोड़कर भाग गए और एक शेर मेरे पीछे पड़ गया। मैं भागता हुआ एक वृक्ष से टकराया और मेरे माथे से खून प्रवाहित होने लगा। मैं घबरा कर झाड़ियों में से भागा, तो वहाँ एक सर्प मेरे पैरों में उलझ गया। मैं चीखा और मेरी नींद खुल गई तथा मैंने स्वयं को भयभीत अवस्था में बिस्तर पर पाया। समस्त स्वप्न का वर्णन करते हुए मैं भूल जाता हूँ, कि मैं, मात्र 'एक' व्यक्ति हूँ, जो सोया हुआ था।

मैं स्वप्न वाली देह नहीं हूँ। मैं आँखें बंद करके सोया था, लेकिन स्वप्न वाली मेरी देह की आँखें खुली थीं, वह भाग रही थी, शेर और साँप से उसकी मुठभेड़ हुई। स्वप्न वाली देह पर जो बीता और उसने जो देखा, तथाकथित जाग्रत मेरी देह उसका यथातथ्य वर्णन ऐसे करती है, जैसे दोनों एक ही हों। जबकि मैं स्वयं में पूर्णतः आश्वस्त हूँ, कि मैं सो रहा था, किसी जंगल में नहीं गया। मैं उसी बिस्तर से उठा हूँ, जिस पर रात्रि में सोया था। मैं स्वप्न वाली देह **भी** नहीं हूँ और यदि हूँ तो वह साँप, शेर, जंगल, बारिश, बादल, अपने साथी, पेड़, झाड़ियाँ आदि सब कुछ मैं **ही** हूँ। लेकिन फिर भी मैं अपनी तथाकथित जाग्रत देह में उस स्वप्न के शुभ-अशुभ का अर्थ जानना चाहता हूँ।

मैं जानता हूँ, कि वह स्वप्न का सारा परिदृश्य स्वप्न वाली देह सहित मेरे एक निराकार मानस से प्रकट हुआ था। **स्वप्न में जो कुछ भी हुआ, मेरे सोए-सोए हुआ और उसकी प्रस्तुति मेरे मन से, मेरे मन में हुई।** मैं कहीं आया-गया नहीं। सपने वाली देह और सोयी हुई देह दोनों अलग-अलग हो गए। लेकिन मेरा जो स्वरूप सोया हुआ था, वह सपना देख भी रहा था और स्वप्न में भाग-दौड़ भी कर रहा था। स्वप्न का वर्णन करने वाली मेरी देह

स्वयं को दोनों मान रही है, कि मैं सोया हुआ भी था और स्वप्न में मेरे ही साथ वह घटना घटी। **जबकि वह सम्पूर्ण परिदृश्य मेरे मानस से मानस में ही प्रकट हुआ। जो कुछ स्वप्न में घटित हुआ, स्वप्न वाली देह के साथ घटित हुआ। क्योंकि स्वप्न की वह सारी सृष्टि स्वप्न वाली मेरी देह के साथ ही लीन हो गई।** स्वप्न का वर्णन करने वाली देह न तो जंगल में गयी, न पेड़ से टकरायी, न उसके माथे पर चोट लगी, न शेर अथवा साँप उसके पीछे पड़े। इसका अर्थ यह हुआ, कि स्वप्न वाली देह और स्वप्न का वर्णन करने वाली देह दोनों अलग-अलग हैं। **लेकिन दोनों की स्मृति एक जैसी है।** स्वप्न का वर्णन करने वाली देह यद्यपि स्वप्न वाली देह नहीं है, लेकिन स्वप्न वाली देह के साथ जो कुछ घटित हुआ, उसका न केवल यथातथ्य वर्णन कर रही है, बल्कि उसी की डरी हुई मानसिकता से प्रभावित भी है। स्वप्न में जो अन्य लोग उसे अकेला छोड़कर चले गए थे, वे लोग उस समस्त परिदृश्य (शेर, साँप, जंगल आदि) के साथ उसी निराकार मानस में समाहित हो गए, जहाँ से वे उसकी स्वप्न वाली देह सहित प्रकट हुए थे।

एक मानस से स्वप्न-सृष्टि प्रकट हुई। उस मानस में मेरी देह सहित मेरा समस्त जगत समाहित है। जो उस देह ने देखा, वह सुना रहा हूँ। मैं स्वप्न वाली देह नहीं हूँ। फिर भी मैं स्वप्न वाली एक देह को **'मैं'** मान कर स्वप्न सुनाता हूँ। सुषुप्ति से उठने के बाद **मैं** स्वप्न के समस्त परिदृश्य को अपनी स्वप्न वाली देह सहित देखता हूँ। मैं अकेला सोया और तथाकथित जाग्रत होकर अपने मानस में चली एक स्वप्न-सृष्टि का अकेला ही वर्णन कर रहा हूँ,, जिसमें मेरी एक देह सहित जगत प्रकट हुआ था और उसी मानस में लीन हो गया। अब उस स्वप्न-सृष्टि का न तो कुछ शेष है, न अवशेष है। केवल उस स्वप्न वाली देह की स्मृति मुझसे स्वप्न का वर्णन करवा रही है।

स्वप्न का वर्णन करने वाली मेरी देह के जगत में रात्रि में सोने के लिए उद्यत मेरी देह, स्वप्न वाली मेरी देह और यह तथाकथित जाग्रत मेरी देह, तीनों हैं। सोए हुए को यह ज्ञान नहीं था, कि मैं सोया हुआ हूँ, **स्वप्न वाले को** यह ज्ञान नहीं था, कि मैं सुषुप्ति से प्रकट हुआ हूँ तथा सपना

देख रहा हूँ और **तथाकथित जाग्रत देह को** यह ज्ञान नहीं है, कि मैं अब भी सोया हुआ हूँ और पहले स्वप्न का वर्णन अब दूसरे स्वप्न में कर रहा हूँ। मेरी सुषुप्ति का प्रमाण यह है, कि मैं अपने सोए हुए, स्वप्न वाले और तथाकथित जाग्रत तीनों रूपों को एक ही मानकर सम्बोधित कर रहा हूँ।

मेरी सोई हुई देह अपने नाम-रूप की अवचेतना में नहीं है, इसलिए उसका कोई जगत है ही नहीं। स्वप्न वाली देह अपने नाम-रूप की अवचेतना में है, इसलिए उसका एक देह सहित जगत प्रकट हुआ, लेकिन उसे ज्ञान नहीं है, कि मेरी देह सहित यह जगत मेरे सोए हुए रूप के निराकार मानस से प्रकट स्वप्न-सृष्टि है। तथाकथित जाग्रत **'मैं'** वस्तुतः सुषुप्ति में उसी प्रकार अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में उठा हुआ है, जैसेकि स्वप्न-सृष्टि में उठा हुआ था। इस तथाकथित जाग्रत देह को यह ज्ञान है, कि मैं स्वप्न वाली देह नहीं हूँ, लेकिन मैं स्वयं को वही सोयी हुई देह मान रहा हूँ, कि मैं सोया हुआ था, अब जाग गया हूँ और मुझे ऐसा स्वप्न आया। यहाँ मुझे व्यथित करने वाली अथवा सुखी करने वाली देह स्वप्न की थी। मैं जो-जो योजनाएँ, ख्याल, सम्बन्ध, परिवार, मित्र-शत्रु, कल्पनाएँ, मान्यताएँ, धारणाएँ आदि लेकर सोया था, उन्हीं के सहित तथाकथित जाग्रत हूँ। साथ ही स्वप्न-सृष्टि में मेरी एक देह के साथ जो-जो सुख-दुःख आदि हुए, उसकी मानसिकता भी मेरे साथ है। स्वप्न में कम से कम सोने के लिए उद्यत देह के प्रोग्राम, ख्याल, ख्वाब, सम्बन्ध, भाव-अभाव, मान्यताएँ और धारणाएँ तो मेरे साथ नहीं थीं। इस तथाकथित जाग्रत मेरी देह को तो देह सहित दो सृष्टियों का बोझा व्यथित करना पड़ रहा है। **यही हमारा जगत है–सोई हुई मेरी देह भी स्वप्न की है, स्वप्न वाली देह तो स्वप्न की है ही और तथाकथित जाग्रत देह भी स्वप्न की ही है।**

सोने वाली मेरी देह थक कर सो गयी थी और तथाकथित जाग्रत देह स्वप्न में ही तरोताज़ा होकर उठ गयी तथा जो मैं स्वप्न में भागा-दौड़ा वह और मेरा समस्त जगत अब है ही नहीं। सोई हुई मेरी देह के मानस से प्रकट, स्वप्न में उठकर स्वप्न वाला मैं भागा-दौड़ा, सोने के लिए उद्यत मेरे कोई

प्रोग्राम उसके साथ नहीं थे। तथाकथित जाग्रत मेरी देह व सोने के लिए उद्यत मेरी देह और स्वप्न वाली देह इन तीनों देहों के साथ भी उनके जगत हैं। लेकिन सुषुप्ति की कोई स्मृति मुझे नहीं है। सुषुप्ति की मनःस्थिति का कोई रिकार्ड मेरे पास नहीं है। **स्वप्न-सृष्टि के अलावा सुषुप्ति की कोई स्मृति मुझे नहीं होती। सुषुप्ति 'एक' है और मेरी देह 'तीन' हैं और तीनों का सम्बन्ध मेरी 'एक' सुषुप्ति से है।**

सोने से पहले मेरी देह सहित मेरा जगत था, जिसमें काल की तीनों विधाओं सहित मेरी योजनाएँ-परियोजनाएँ, ख्याल, विचार, कल्पनाएँ, ख्वाब आदि थे, फिर मैं सोया। सुषुप्ति में मैं उस समस्त जगत और अपनी देह की अवचेतनामयी सृष्टि से परे हो गया। साथ ही मैंने स्वप्न देखा, जिसमें स्वप्न की मेरी देह सहित एक जगत था। अब मैं सुषुप्ति से उठा और तथाकथित जाग्रत होकर मैं देह सहित एक जगत में हूँ। **मेरे तीनों रूपों का सम्बन्ध निश्चय ही मेरी सुषुप्ति और उस स्थान से है, जहाँ मैं सोया,** वहीं से मैं स्वप्न में उठा और वहीं से तथाकथित जाग्रत हो कर उठा हूँ। **यही मेरा जगत है, मुझे तीनों की स्मृति है, क्योंकि तीनों स्वप्न के हैं।** जिस बिस्तर पर मैं सोया था, वह मैंने तथाकथित जाग्रत होकर देखा, कि मैं इस बिस्तर पर सोया था और मेरे सोए-सोए ही वह सपना प्रकट हुआ था।

मेरी स्मृतियाँ वस्तुतः उन स्वप्नों की हैं, जिनमें मुझे ज्ञान नहीं है, कि यह सपना है। जो मेरी देह सोने जा रही थी, जो सपना देख रही थी और जो स्वप्न का वर्णन कर रही है, वे तीनों ही स्वप्न की हैं। स्वप्न का न कोई शेष है, न अवशेष है। स्वप्न का सुख एवं दुःख दोनों एक मानसिकता छोड़ जाते हैं, जिनसे दूसरा स्वप्न प्रकट होता है। **स्वप्न जगत में कभी भोग और आनन्द नहीं होता। भोग और आनन्द केवल जागृति में ही होगा।**

किसी भी स्वप्न में मुझे ज्ञान नहीं होता, कि यह 'स्वप्न है, क्योंकि उस समय मुझे मेरी सुषुप्ति की अनुभूति नहीं होती। मैंने स्वप्न में भाग-दौड़ करके कुछ प्राप्त किया अथवा कुछ खोया, तो उसी थकी हुई अवसादमयी मानसिकता के साथ तथाकथित जाग्रत होकर उठता हूँ। यदि स्वप्न के

चलते मुझे यह ज्ञान हो जाता, कि यह स्वप्न है, तो मैं खोने और पाने दोनों का आनन्द लेता। **गुरु-कृपा से स्वप्न के चलते हुए स्वप्न का 'सद्' अनुभूति में आ जाए, कि यह स्वप्न है, तो मायिक जगत की प्रत्येक विधा मेरे लिए आनन्दमय हो जाएगी।** मुझे स्वप्न का सब कुछ याद है। अब यह ज्ञान भी है, कि वह सपना था, क्योंकि मैं सोया हुआ उसी बिस्तर से उठा हूँ जिस पर रात को सोया था। मेरे दिल-दिमाग में मेरे तीन रूप हैं—एक **'मैं'** जो सोने जा रहा था, दूसरा **'मैं'** जो स्वप्न में प्रकट हुआ और तीसरा **'मैं'** जो सोने से उठा। तीनों मेरी स्मृति में हैं। ये तीनों रूप अलग-अलग होते हुए भी **'एक'** इसलिए हैं, क्योंकि तीनों स्वप्न के हैं और तीनों का सम्बन्ध **'एक'** सुषुप्ति से है। मेरे तीनों रूप और उनके साथ का तत्सम्बन्धी जगत मेरी एक सुषुप्ति से प्रकट विभिन्न स्वप्नों के जगत हैं। **मेरी निद्रा एक है, स्वप्न अनेक हैं। निद्रा निराकार है और स्वप्न साकार है।**

निद्रा जड़ता है, क्योंकि निद्रा में **'मैं'** ईश्वर-विमुख तो होता ही हूँ, साथ ही अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में भी नहीं होता। **निद्रा में मेरे नाम-रूप की समस्त सृष्टि समाप्त हो जाती है। जिसकी चेतना अथवा अवचेतना कुछ मुझे नहीं होती, इसलिए वह जड़ है और एक ही है।** सोने वाला 'मैं', स्वप्न वाला 'मैं' और निद्रा से तथाकथित जाग्रत 'मैं' कम से कम मेरी देह व जगत की अवचेतना में तो हैं। **जो सोया हुआ मेरा स्वरूप है, वह तो मेरी अवचेतना में भी नहीं है।** सुषुप्ति मेरी जड़ स्थिति है, जिसमें चेतना तो छोड़ो, मैं अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में भी नहीं होता। तीनों अवचेतनाएँ मेरी एक जड़ता (निद्रा) का प्रतिफल हैं। युगों-युगान्तरों की मेरी जितनी भी स्मृतियाँ हैं, उनका सम्बन्ध मेरी एक जड़ता (सुषुप्ति) से है। काल, धर्म-कर्म, लेना-देना, सम्बन्ध, राग-द्वेष, हानि-लाभ, यश-अपयश, जीवन-मरण, सुख-दुःख, मान्यताएँ, धारणाएँ, विचार, चाहतें, चहेतियाँ, माया के तीनों गुण, जो कुछ भी मेरे दिल-दिमाग में है, उन सब का सम्बन्ध मेरी एक जड़ता से है। मैं किस-किस पर विचार करूँ। **जिस मानसिक स्थिति में हम स्वयं को जगत से भिन्न देखते हैं, वह ऐसा सपना है जो देखते**

समय मालूम नहीं, कि सपना है। जब भी मैं साकार देह के किसी भी रूप में प्रकट होता हूँ, तो जगत के सहित ही होता हूँ। जगत मुझसे अभिन्न है। **जहाँ जगत को स्वयं से भिन्न देखेंगे, वहाँ कर्ता एवं कारण अवश्य बनेंगे।** हममें स्पर्धा, राग-द्वेष, वैर-वैमनस्य, लोभ-मोह, क्रोध-अहंकार आदि विकृतियाँ हमारे चेतन स्वरूप को आच्छादित कर देंगी। हम जीव बनकर युगों-युगान्तरों तक जीव-सृष्टि के काल-चक्र में भ्रमित होते हुए धक्के खाते रहेंगे।

निद्रा वह मानसिक स्थिति है, जिसमें आप अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होते तथा आपका कोई जगत भी नहीं होता। उस स्थिति को तथाकथित जाग्रत होकर समाधि में आँखें बन्द करके देखने से आपके **प्रज्ञा चक्षु** खुल जाते हैं, वही आपकी **जागृति** है। वही **चेतनता** है। जहाँ चेतना होगी, वहाँ **सद् व आनन्द** स्वतः होंगे ही। जहाँ आनन्द की स्थिति होगी, वहाँ चेतनता होगी ही तथा वहाँ हर प्रकाट्य सद् ही होगा। सद् में कर्म हमारे द्वारा होते हैं, परन्तु हमारे भीतर कर्ता भाव नहीं होता। जहाँ कर्ता भाव होगा, वहाँ आनन्द हो नहीं सकता। आनन्द से परिपूरित व्यक्ति की समस्त क्रियाशीलता प्रभु प्रेरित और प्रभु द्वारा ही होती है। **मूलतः विरक्त व्यक्ति ही आनन्दित होता है।**

एक जड़ता (निद्रा) जब चेतनता (जागृति) बन जाएगी, तो मैं साकार सृष्टि में अपने प्रत्येक रूप और उस पर आधारित जगत का आनन्द लूँगा। **उस स्थिर, विरक्त मन से प्रभु द्वारा ईश-सृष्टि प्रकट होती है।** वह सृष्टि सद् होती है। ऐसे महानुभावों का जीवन **यथार्थ, अन्यार्थ** और **हितार्थ** होता है। वे ऐतिहासिक महापुरुष युगों-युगान्तरों में प्रेरणा के स्रोत बने रहते हैं।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(16 जुलाई, 2007)

द्वैत-अद्वैत

(भाग 1)

द्वैत Duality को कहते हैं, जहाँ दो हों। अद्वैत में दो नहीं रहते, इस Non-Duality में दोनों मिल जाते हैं। **एकात्म में दो की भावना या धारणा नहीं होती।** परमात्मा स्रष्टा है और जीवात्मा दृष्टा है, दोनों निराकार, अदृश्य एवं सच्चिदानंद हैं, दोनों में अद्वैत है। समस्त सृष्टि साकार है तथा विभिन्न नाम-रूपों में है। यहाँ जीवात्मा की दृष्टि से मुख्य रूप से दो अद्वैत (द्वैत में अद्वैत) हैं। **परमात्मा और जीवात्मा का अद्वैत तथा जीवात्मा और समय-समय पर उसे दी जाने वाली नाम-रूप की मानव-देह का अद्वैत।**

परमात्मा और जीवात्मा के अद्वैत में शिव-शक्ति-क्रीड़ा होती है। शिव स्वतः, स्वयं में, स्वान्तः सुखाय खेलता है। सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार होता है। जीवात्मा और नाम-रूप की मानव-देह के तथाकथित अद्वैत में उस क्रीड़ा का साकार सृष्टि के रूप में समय-समय पर प्रकाट्य होता है। सृष्टि की साकार क्रीड़ा में दो पक्ष होते हैं—जीवात्मा को समय-समय पर दी जाने वाली नाम-रूप की देह और उस पर आधारित उस समय का जगत। **प्रकटीकरण में वह देह भी होती है और समस्त प्रकाट्य का आधार वह देह ही होती है। साकार नाम-रूपों में जगत उस एक देह पर आधारित है और उसी एक देह से प्रकट है। उस एक देह सहित समस्त जगत की प्रस्तुति निराकार मानस से होती है और वह जीवात्मा के मानस की प्रस्तुति होती है।** प्रस्तुतिकरण (Projection) के बाद भी वह मानस में रहती है और समय-समय पर विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार विभिन्न

देश-काल परिस्थितियों में प्रकट और लीन होती रहती है।

मूलतः जीवात्मा और परमात्मा में द्वैत नहीं है, बल्कि अद्वैत में द्वैत सा है। जीवात्मा, परमात्मा का ही प्रतिरूप, उसी का अंश है। जीवात्मा, परमात्मा की एक विधा है। परमात्मा स्रष्टा है, जीवात्मा दृष्टा है। दोनों सच्चिदानंद, अदृश्य व निराकार हैं। स्रष्टा ने दृश्यमान जगत की माया का खेल रचाया तो उसने अपने ही प्रतिरूप जीवात्मा को इस भ्रम को देखने के लिए पंच-महाभूतों की एक प्रपंचमय मानव-देह दी। जीवात्मा तनिक भ्रमित होकर इस साकार मायाजाल को देखता और फिर अपने निराकार स्वरूप को देख लेता, तो इसका परमात्मा के साथ अद्वैत बना रहता। लेकिन अज्ञानवश वह इस मायिक देह व जगत की दैहिक नाम-रूपों की माया से भ्रमित हो गया, क्योंकि वह देह के साथ विशेष नाम-रूप की अवचेतना में तद्‌रूप हो गया। अद्वैतता इसकी स्वभावगत विशेषता थी, इसीलिए जो **अद्वैत** इसका परमात्मा के साथ था, वह समस्त सृष्टि का आधार इसे दी गई **देह के साथ नाम-रूप** में हो गया। महादुर्भाग्यवश यह अद्वैत ऐसा हो गया, कि जीवात्मा ने उस नाम-रूप में उस देह को ही अपना स्वरूप मान लिया और परमात्मा से इसके अद्वैत पर आवरण पड़ गया। इससे जीव बनकर यह जीव-सृष्टि में भटकने लगा।

'मैं' (जीवात्मा) चेतना है और नाम-रूप की देह सहित जगत अवचेतना में है, मायिक है, क्रीड़ा व मनोरंजन के लिए है। **'मैं'** शब्द वस्तुतः जीवात्मा के प्रकटीकरण का द्योतक है। जीवात्मा की देह सहित समस्त नाम-रूपों की **'मैं'** एक ही है और नाम-रूपों में देहें पृथक-पृथक हैं। **तथाकथित होश सम्भालते ही जब 'मैं' ने स्वयं को एक नाम-रूप की देह मान लिया, तो जीवात्मा से जीव-कोटि में आ गया। शिव-शक्ति-क्रीड़ा की समस्त साकार आनन्दमय ईश प्रस्तुति इसके लिए सुख-दुःखमयी जीव-सृष्टि बन गई।** परमात्मा और जीवात्मा का अद्वैत में द्वैत आनन्द का हेतु था। **इस अद्वैत में सृष्टि का लय हो जाता है और द्वैत में सृष्टि प्रकट होती है। दोनों समानान्तर चलते हैं,** लेकिन जीवात्मा और नाम-रूप की

देह में अद्वैत होने से ईश-सृष्टि ही जीव-सृष्टि बन गई। यह जीव-सृष्टि सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, लाभ-हानि, उन्नति- अवनति, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, आधि-व्याधि-उपाधि, भय-त्रास, मल, विक्षेप, आवरण, भवरोग, मानसिक व दैहिक रोगों-दोषों आदि से युक्त हो गई। वहाँ से जीवात्मा के दुःखों का अन्तहीन सिलसिला प्रारम्भ हो गया। **परमात्मा का इकलौता मानस-पुत्र जीवात्मा ही जीव बन कर विधि के विधानों में बँध गया।** अकाल, सच्चिदानंद, सहज सुखराशि, जीवात्मा **काल में बँध कर दुर्गति** (परमात्मा से दूर होने की गति) व **अधोगति** को प्राप्त हो गया। विधाता कानून बनाने वाला है, उसका अंश व इकलौता मानस-पुत्र स्वयं उसकी विधि (कानूनों) में जकड़ गया और उसका प्रारब्ध बनने लगा।

जीवात्मा और नाम-रूप की देह के अद्वैत में हो रही दुर्गति व अधोगति की Realisation के बिना जीवात्मा और परमात्मा का अद्वैत अनुभूतिगम्य नहीं हो सकता। काल-कालान्तर, काल-चक्र, युग-युगान्तर, जन्म-जन्मान्तर, मर्यादाएँ-अमर्यादाएँ, मान्यताएँ-धारणाएँ, सम्बन्ध, धर्म-कर्म, पाप-पुण्य, गुण-अवगुण, सुकृतियाँ व विकृतियाँ, कर्तव्य व कर्मबन्धन आदि जीवात्मा और नाम-रूप की देह के असद् अद्वैत में ही हैं। **यदि इस अद्वैत में द्वैत रहता तो नाम-रूप की देह व जगत स्वयं में असद् व मिथ्या नहीं होते।** लेकिन जीवात्मा व नाम-रूप की देह का अद्वैत असद् है। इसमें प्रकट होने वाला जगत भी मिथ्या व असद् है। जीवात्मा और नाम-रूप की देह के अद्वैत में प्रकट जीव-सृष्टि का एक पक्ष वह नाम-रूप की देह होती है तथा दूसरा पक्ष उस देह पर आधारित उस समय का विभिन्न नाम-रूपात्मक जगत होता है। **शिव-शक्ति-क्रीड़ा का प्राकट्य एक और अनेक के मध्य है।** अनेक नाम-रूपात्मक जगत उस एक नाम-रूप की देह पर आधारित है और उसी से प्रकट है। यदि जगत हमारी अपनी एक देह पर आधारित न होता, तो हम जगत से प्रभावित न होते। ये दोनों वास्तव में पृथक-पृथक होते। लेकिन यह उसी प्रकार अद्वैत में द्वैत सा है, जिस प्रकार परमात्मा और जीवात्मा का **अद्वैत में द्वैत सा है।**

चराचर जगत में प्रेम, घृणा, वैर, स्नेह, विरह, मिलन, लाभ-हानि, सुख-दुःख सबका आधार हमारी अपनी एक नाम-रूप की देह होती है। यदि ऐसा न होता तो हमने किसी से क्या लेना या क्या देना है ! मैं इसे पुनः स्पष्ट करूंगा, कि जीवात्मा और नाम-रूप की देह बिल्कुल पृथक हैं, दोनों में पक्का द्वैत है, लेकिन दुर्भाग्यवश यह अद्वैत हो गया। शिव-शक्ति-क्रीड़ा का प्राकाट्य सृष्टि में नाम-रूप की देह और जगत में होता है। दोनों में अद्वैत है, दोनों एक साथ प्रकट और लीन होते हैं, लेकिन **क्रीड़ा में मनोरंजन के लिए द्वैत सा है।** महादुर्भाग्यवश जब जीवात्मा का नाम-रूप की देह के साथ अद्वैत हो गया (जो कि द्वैत था) तो उस देह पर आधारित जगत की विभिन्न विधाओं से वह केवल प्रभावित ही नहीं हुआ, बल्कि वह समस्त जगत इसकी देह से पृथक **सा** हो गया। **वस्तुतः वह देह ही इसके लिए न रही और उस देह पर आधारित समस्त जगत भी इसके गले पड़ गया।** इसका जीवात्मा स्वरूप मलिन, विक्षिप्त व आच्छादित हो गया। वह सृष्टि जो परमात्मा द्वारा स्वतः एवं स्वान्तः सुखाय निर्मित, पालित व संहारित होकर, इसके देखने और प्रशंसा करने के लिए प्रकट हो रही थी, जीव बनकर जीवात्मा उसका कर्ता बन गया। जीव को ऐसा लगता है, कि जगत मुझसे भिन्न है, लेकिन यह अद्वैत में द्वैत सा है और जीवात्मा और नाम-रूप की देह का द्वैत में अद्वैत **सा** है।

जीवात्मा और नाम-रूप की देह के अद्वैत में जीव-सृष्टि बनती-मिटती रहती है। जीव-सृष्टि के दो पहलू—मेरी (जीवात्मा) नाम-रूप की देह और जगत दो नहीं हैं। यह पहले अद्वैत से प्रकट दूसरा अद्वैत है जो इसे द्वैत लगने लगा। **इस जीव-सृष्टि में उतरते ही जीवात्मा की अधोगति होने लगती है और इसकी देह लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाती है।** ब्रह्म-चिन्तन ईश्वर की भाँति अथाह है और यह माया भी अथाह है। ***'प्रभु अनन्त प्रभु माया अनन्ता।'*** जीव-सृष्टि जो माया में रचना है, यह भी अनन्त है। ईश-सृष्टि, जीव-सृष्टि और आत्म-चिन्तन को कभी भी सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता।

मानव को परमात्मा ने शारीरिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक तीन शक्तियों से नवाज़ा है। इसकी शारीरिक और बौद्धिक शक्तियाँ कितनी भी विस्तृत हो जाएँ, वे सीमित हैं और सीमित ही रहती हैं। लेकिन तीसरी मानसिक अथवा आध्यात्मिक शक्ति असीम है, यह ईश्वरीय शक्ति है, जो परमात्मा व जीवात्मा के अद्वैत में मानव को स्वतः प्राप्त है। जीवात्मा मानव-देह में नाम-रूप की तद्रूपता में अपनी उस असीमता को भूल सा जाता है। जिस परमात्मा के साथ इसका अद्वैत है, उससे विलग सा होकर एक नाम-रूप की देह में सीमित, संकुचित व तुच्छ सा जीव बन जाता है। **वह अपनी असीम मानसिक शक्ति का भी प्रयोग अपनी सीमित शारीरिक व बौद्धिक शक्तियों के विस्तार के लिए करने में जुटा हुआ, जन्मों-जन्मान्तरों में भटकने लगता है।** इसकी शारीरिक व बौद्धिक सीमाएँ अति-अति विस्तृत होते हुए भी सीमित रहती हैं और कोई न कोई असन्तुष्टि बनी रहती है, जो अन्ततः मृत्यु के साथ आसक्ति बन कर इसके मानस से चिपकी रहती है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपनी राज्य की सीमाओं का विस्तार करते हुए भी सीमित रहे और अन्ततः सब भूमि यहीं छोड़कर चले गए।

यहाँ एक आध्यात्मिक तकनीकी विज्ञान लागू किया जाना चाहिए। यदि जीव बनकर भी अपनी सीमित शक्तियों को भूल कर जीवात्मा अपनी असीमता में प्रविष्टि पा ले, तो इसे अपने खोए हुए असीम जीवात्मा-स्वरूप की अनुभूति अवश्य हो जाएगी। **स्वयं में यह असीम ही है, क्योंकि ईश्वर के साथ इसका अद्वैत है।** लेकिन देह के साथ नाम-रूप में तद्रूपता में यह ईश्वर के साथ अपने अद्वैत को भूल जाता है और जीव-सृष्टि में विचरने लगता है। **अपनी असीम शक्ति को जीवात्मा भूल गया और यदि अवचेतना में उस असीम शक्ति का प्रयोग भी किया, तो देह और देह पर आधारित जगत में सीमित शक्तियों की सीमाओं के विस्तार के लिए किया, जो अन्ततः सीमित ही रहीं।** दैहिक व बौद्धिक शक्तियों को कितना विस्तृत किया जा सकता था? इन शक्तियों से जो भी प्राप्तियाँ होंगी, वे

सीमित ही तो रहेंगी। जबकि सच्चिदानंद की सृष्टि में कुछ भी सीमित नहीं है, सब कुछ असीम है। **सीमितता और असीमता मानसिक स्थितियाँ हैं।** किसी के पास करोड़ रुपया है, वह असंतुष्ट है, कि दो करोड़ हो जाए। किसी के पास हज़ार रुपया है, वह सन्तुष्ट है, कि बहुत है। वह अपने भाई-बंधुओं में भी बाँटता रहता है:—

''चाह गई चिन्ता गई मनुवा बेपरवाह,
जिसको कुछ नहीं चाहिए वह शाहों का शाह।''

जिसने हज़ार रुपयों को बहुत कह दिया, उसके लिए असीम है, जिसने करोड़ रुपयों को **'मात्र'** कह दिया, उसके लिए करोड़ रुपये भी सीमित हैं। **सीमित की सीमाओं के उल्लंघन के लिए जीवात्मा को सीमित से परे हटना होगा।** नाम-रूप की सीमित देह व सीमित शारीरिक व बौद्धिक शक्तियाँ इसके मनोरंजन और खेल के लिए थीं। जीवात्मा स्वयं में असीम ही है, क्योंकि परमात्मा के साथ अद्वैत है। नाम-रूप की देह के अद्वैत में देह की सीमित शक्तियों ने इसे भी सीमित कर दिया। **अपनी असीमता की अनुभूति के लिए इसे अपनी देह व समस्त दैहिक व बौद्धिक शक्तियों का तहे-दिल, मन व रूह से समर्पण करना होगा। तभी इसे वह असीम द्वार नज़र आएगा और यह परमात्मा के साथ अपनी अद्वैतता की अनुभूति कर पाएगा।**

जीवन प्रारम्भ हुआ है, इसका अन्त अवश्य होगा। लेकिन अन्त कब होगा, यह ईश्वरीय दृष्टि से सुनिश्चित होते हुए भी हमारे लिए अनिश्चित है। **हम मानव देहधारी होकर मानव-जीवन भी व्यतीत कर रहे हैं या नहीं, इसका ज्ञान हमें अपने जीवन-लक्ष्य से होगा। हम अपने सम्पूर्ण जीवन से जो चाहते हैं, वही हमारे जीवन का लक्ष्य है।** हमारी रोज़ की चाहतें तो परिवर्तित होती रहती हैं। सम्पूर्ण जीवन से हमारी क्या चाहत है, मानव देहधारी होने के कारण इसका ज्ञान होना इसलिए अति आवश्यक है, क्योंकि हमें अपने जीवन की अवधि का कोई ज्ञान नहीं है। उस उद्देश्य के लिए हमारा स्तर क्या है, ज़रिया क्या है और Milestone क्या है, हम कहाँ

तक पहुँचे हैं? यदि हमारी दैनिक सक्रियता उस दिशा में नहीं है, तो जीवन में जो कुछ भी हम कर रहे हैं, उन कृत्यों का कोई अर्थ नहीं है। **जो लक्ष्य-विहीन प्राणी केवल अपनी देह और उस देह पर आधारित छोटे से जगत के लिए कार्यरत हैं, उन्हें मानव देहधारी होते हुए भी मानव नहीं कहा जा सकता।**

तथाकथित होश आने पर मानव-देह जब सक्रिय होती है, तो जीवात्मा का **'मैं'** शब्द रूप में प्रकाट्य होता है। जीवात्मा, परमात्मा का इकलौता मानस-पुत्र है। उसी की भाँति सच्चिदानंद, अदृश्य, निराकार, ब्रह्माण्डातीत और छः विभूतियों (सौन्दर्य, ज्ञान, शाक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति एवं वैराग) से युक्त है। वह अनादि, अनंत, अजर, अमर, पाप-पुण्य व सुख-दुःख से रहित सहज सुखराशि है। जीवात्मा कालातीत, देशातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, सम्बन्धातीत, मायातीत व लिंगातीत है। **ऐसे जीवात्मा का 'मैं' शब्द रूप में एक जीवित और सक्रिय मानव-देह के सान्निध्य में प्रकाट्य होता है।** उसे देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता हो गई। वह देह जो सुख-दुःख, जन्म-मरण, पाप-पुण्य, देश-काल, धर्म-कर्म, कर्तव्य, सम्बन्ध, लिंग-जाति और माया के तीनों गुणों में बँधी हुई है। ऐसी देह के साथ जब **'मैं'** लगी, तो **'मैं'** जीवात्मा से जीव बन गया, क्योंकि दोनों का परस्पर कोई तालमेल नहीं था। देह साकार है, **'मैं'** निराकार है, देह दृश्यमान है और **'मैं'** अदृश्य है, देह व्यष्टि है और **'मैं'** समष्टि है। इस प्रकार जीवात्मा, जो महाचेतन का चेतन अंश था, वह चेतन जीवात्मा से अवचेतन जीव बन गया। यह उसका drastic demotion था। **यहाँ से देह भी लक्ष्य-भ्रष्ट हो गई।** जो मानव-देह जीवात्मा को एक लक्ष्य (परमात्मा के साथ अपने अद्वैत की अनुभूति) प्राप्ति के साधन के रूप में मिली थी, वह उसी समय लक्ष्य-विहीन होकर पथ-भ्रष्ट हो गई। जीवात्मा ने एक नाम-रूप की देह पर अधिपत्य कर लिया, इसलिए अपनी ही स्वतःप्राप्त स्वरूपगत विभूतियों (सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति आदि) को देह व देह पर आधारित जगत में प्राप्त करने के लिए संघर्षरत हो गया। देह के साथ नाम-रूप की तद्‌रूपता में अपनी अजरता,

अमरता, चेतनता व सहज सुख गवाँ बैठा और अवचेतन जीव बनकर सुखी-दुःखी होता हुआ, जन्मने-मरने सा लगा।

जीवन का अंग्रेज़ी अनुवाद Life नहीं है। वस्तुतः जीवन के लिए अंग्रेज़ी में कोई शब्द ही नहीं हैं। Animal and Human Life में बहुत बड़ा अन्तर है। **जीवन** शास्त्रीय शब्द है। यह मात्र मानवों के साथ शोभायमान होता है। **जीव + न = जीवन।** आज विश्व में प्रथम बार हम **'जीवन'** शब्द की परिभाषा दे रहे हैं :–

"All the mental, physical, spiritual or otherwise intentional or unintentional human activities which are diverted, diversified, modified, channelised, deepend or stopped towards attaining a known invariable goal that I am not **'jeev'** is Jeevan.

यही मानव-जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। देह के अगले श्वास की हमें कोई सुनिश्चितता नहीं है, इसलिए हमें मानव-देह धारण करके जीवन के इस उद्देश्य के लिए पल-पल जीना होगा। मैं जीवन **में** जो चाहता हूँ, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि मैं जीवन **से** क्या चाहता हूँ? मेरी **सम्पूर्ण सक्रियता** (जो मैं कर रहा हूँ या मुझसे करवाया जा रहा है अथवा मैं करना छोड़ रहा हूँ) **'मैं'** जीव (नाम-रूप की देह) नहीं हूँ, तो मैं कौन हूँ ? की जिज्ञासा की ओर है या नहीं। यदि **'नहीं'** तो मैं मानव देहधारी होकर भी मानव जीवन नहीं जी रहा, केवल Human life lead कर रहा हूँ।

हमें मानव-देह इसलिए मिली है, कि ''ऐ मानव ! तू देह के साधन से यह अनुभूति कर ले, कि तू जीव नहीं है, तू विशुद्ध जीवात्मा है, तू अपने और परमात्मा के अद्वैत की अनुभूति कर।'' मैं' के प्रकाट्य के लिए न केवल जीवित बल्कि सक्रिय देह चाहिए। सोया हुआ अथवा मूर्छित व्यक्ति और गोद में खेलता हुआ शिशु भी जीवित है, लेकिन वह जीवन के लिए स्वयं में सक्रिय नहीं है। वह **'मैं'** नहीं लगा सकता, क्योंकि **'मैं'** का प्रकाट्य देह की सक्रियता में होता है। **'मैं'** जीवात्मा है, समष्टि तत्त्व है। **'मैं'** दिखाई नहीं देता, मात्र सुनाई देता है। सभी धर्मों, सभी संस्थाओं, सभी

कालों, सभी सम्बन्धों, सभी कर्मों, सभी पदों की **'मैं'** एक ही है। देह के साथ तद्रूपता में देह के साथ **'मैं'** भी सो गया, जबकि **'मैं'** (जीवात्मा) कभी नहीं सोता। **'मैं'** ने उस सुषुप्ति में सपना देखा, जो जागृति में पता चला, कि सपना था। वह उसकी जीव-सृष्टि थी।

जितनी जीव-सृष्टि है, वह सब स्वप्न-सृष्टि है। **'मैं'** (जीवात्मा) सुषुप्ति से तथाकथित जागकर भली-भाँति जानता है, कि वह टस से मस नहीं हुआ और एक स्वप्न-सृष्टि में वह न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहा। उस सपने में भी तो वह जागा **सा** हुआ था और यह अब मालूम है कि **'मैं'** सोया हुआ था। **'मैं'** सुषुप्ति के अज्ञान की मोह-निद्रा में स्वप्न-सृष्टि में जागा इसीलिए स्वप्न देखते समय वह स्वप्न नहीं था। तथाकथित जागृति में यह ज्ञान होने पर उस सृष्टि का महात्म्य समाप्त हो जाता है। **'उत्तिष्ठ-जाग्रत'** शीर्षक प्रवचनों में मैंने इसका सविस्तार वर्णन किया है। इसी प्रकार जब मैं तथाकथित जाग्रत हुआ, तब भी नाम-रूप की देह के साथ अद्वैत की मोह-निद्रा मुझे ग्रसे हुए है और **'मैं'** वैसा ही जागा हूँ, जैसाकि मैं स्वप्न में जागा था। अब तथाकथित जागृति में अपने मूल जीवात्मा स्वरूप की अनुभूति के लिए उसे किसी भी प्रकार से परमात्मा के साथ अपने अद्वैत की अनुभूति करनी होगी।

नाम-रूप की अवचेतना में उसे अपने इष्ट के साथ नाम-रूप में जुड़ कर अपनी चेतनता (जहाँ न उसकी नाम-रूप की देह है और न उससे सम्बन्धित जगत की विधाएँ हैं) अथवा विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप को जाग्रत करना होगा। इसे निद्रायोग, सुषुप्ति योग अथवा समाधि कहा गया है। इसका परमात्मा के साथ द्वैत **सा** होते हुए भी अद्वैत है। **यह द्वैत सा इसलिए है, क्योंकि जीवात्मा स्रष्टा नहीं है, मात्र दृष्टा है। देह के रहते हुए ही जीवात्मा को अपने विशुद्ध स्वरूप की अनुभूति भी होगी।** ईश्वर ने इसे देह की शारीरिक व बौद्धिक सीमित शक्तियों के साथ तीसरी असीम मानसिक ईश्वरीय शक्ति भी दी है। इस तीसरी शक्ति से ही जीवात्मा जीव-सृष्टि से बाहर निकलकर ईश-सृष्टि में आ सकता है। **इसके लिए इसे अपनी**

समस्त भौतिक, शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियों का प्रभु-चरणों में समर्पण करना होगा। सद्‌गुरु के सद् निर्देशन में यह नाम-रूप में इष्ट व सद्‌गुरु से जुड़ जाता है, उसका ध्यान करता है व गुणगान करता है। पहले यह अपनी साकार देह के नाम-रूप में तद्‌रूपता के कारण अपने अक्षुण्ण जीवात्मा पद से अपदस्थ होकर तुच्छ सा जीव बनकर जीव-सृष्टि में भटकने लगा था। **अब यह अपने इष्ट व सद्‌गुरु का साकार नाम-रूप में ध्यान करता है, जाप करता है, तो कुछ समय के लिए नाम-रूप की जीव-सृष्टि से परे हो जाता है। इसकी नाम-रूप की देह की सीमित सीमाएँ (शारीरिक व बौद्धिक) शान्त हो जाती हैं और असीम ईश्वरीय शक्ति जाग्रत हो जाती है। इसे जीवात्मा की जागृति कहा गया है।** जब इसने निद्रा से उठकर देह को सुला दिया, तो देह की सीमित शक्तियाँ समर्पित हो गईं और अपनी असीम ईश्वरीय मानसिक शक्ति का इसे आनन्द आने लगा। आनन्द के साथ सद् व चेतन का दामन-चोली का साथ है। इस प्रकार सद्‌गुरु-कृपा से जीवात्मा को परमात्मा के साथ अपने अद्वैत की अनुभूति हो जाती है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(29 जनवरी 2007)

द्वैत-अद्वैत

(भाग 2)

शिव सच्चिदानंद है, छः विभूतियों से विभूषित है और कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का स्रष्टा है। शिव का मानस-पुत्र **जीवात्मा दृष्टा** है, वह भी उसी के समान सच्चिदानंद एवं सहज सुखराशि है। शिव की स्वतः, स्वान्तः सुखाय एवं स्वयं में हुई क्रीड़ा का प्रकाट्य यह सृष्टि है। शिव की अतिशक्ति वैराग और उससे प्रकट पंच-प्राणों की महाशक्ति में हुई **शिव-शक्ति-क्रीड़ा** का प्रकाट्य पंच-महाभूतों की चराचर मायिक सृष्टि के विभिन्न रूपों में दृश्यमान होता है। इन्हीं में जीवात्मा को दी जाने वाली मानव-देह भी है, जो समस्त साकार सृष्टि का संघनित रूप है। पंच-महाभूत पंच-प्राणों का प्रकाट्य है। इनकी प्राण-शक्ति शिव की अतिशक्ति वैराग है, जो अदृश्य भस्मी के रूप में इनके कण-कण में समाहित रहता है। **प्राण** प्राण **अग्नि** के रूप में, **अपान** प्राण **वायु** के रूप में, **समान** प्राण **पृथ्वी** के रूप में, **उदान** प्राण **जल** के रूप में और **व्यान** प्राण **आकाश** के रूप में प्रकट होते हैं।

इन पंच-महाभूतों के कण-कण में समाहित अदृश्य भस्मी शिव की विरक्ति शक्ति है, जो इन्हें ईश्वरीय नियमानुसार एक विशेष क्रम में अविरल व सतत् गतिमान रखती है। **इनकी गतियाँ अत्यन्त सार्थक, उपयोगी और अकाट्य हैं, क्योंकि ये सीधे सर्वशक्तिमान परमात्मा की विरक्ति शक्ति द्वारा प्रेरित व संचालित हैं।** इसमें इनका अपना कोई हस्तक्षेप रंच मात्र भी नहीं होता और इनसे ही समस्त चराचर जगत का निर्माण, पालन व संहार

होता है। संहार के समय अन्ततः सृष्टि पंच-तत्त्वों में विलय होती है और इन महाभूतों में अदृश्य रूप से समाहित वह **भस्मी** प्रकट हो जाती है। शिव की उस विरक्ति शक्ति का प्रकाट्य भौतिक भस्मी के रूप में तब होता है, जब पंच-महाभूतों की देह पंच-तत्त्वों में विलीन हो जाती है।

इस समस्त शिव-शक्ति-क्रीड़ा का दृष्टा जीवात्मा है। **मूलतः स्रष्टा और दृष्टा एक ही हैं। स्रष्टा ने अपना ही एक प्रतिरूप जीवात्मा प्रकट किया जो उसी के जैसा अदृश्य, निराकार व सच्चिदानंद है।** उसे इस साकार सृष्टि के खेल को देखने व प्रशंसा करने के लिए पंच-महाभूतों से निर्मित अति चमत्कारिक व विलक्षण एक मानव-देह दी, जो ईश्वर द्वारा निर्मित, पालित व संहारित है। वह मानव-देह सम्पूर्ण दृश्यमान व साकार चराचर सृष्टि का संघनित रूप है। उस एक व्यष्टि (स्थूल देह) में समस्त समष्टि निराकार व सूक्ष्म रूप में समाहित है। वह व्यष्टि स्थूल देह उस सूक्ष्म देह का एक अंग मात्र है। दृष्टा जीवात्मा उस स्रष्टा ईश्वर का मानस-पुत्र है। **दोनों में द्वैत सा होते हुए भी अद्वैत है। ईश्वर से यह द्वैताद्वैत (द्वैत में अद्वैत) इसका विशुद्धतम स्वरूप है।**

जीवात्मा, परमात्मा के ही उदरस्थ है, उसी की ही भाँति टस से मस नहीं होता, कहीं आता-जाता नहीं है। लेकिन महादुर्भाग्यवश यह इसे दी गई व्यष्टि मानव-देह के साथ नाम-रूप में तद्रूप हो जाता है और अपने विशुद्धतम स्वरूप से अपदस्थ होकर अधोगति में भटकने लगता है। 'मैं देह हूँ' के भाव तक भी जीवात्मा का परमात्मा के साथ अद्वैत बना रहता है। मैं अमुक-अमुक (नाम-रूप) हूँ, एक व्यक्तिगत नाम-रूप के साथ स्वयं को पहचानने से इसका जो अद्वैत (तद्रूपता) ईश्वर के साथ था, वह एक नाम-रूप की देह के साथ हो जाता है। समस्त चराचर जगत का संघनित रूप इस देह में वह एक नाम-रूप की देह **भी** (स्थूल देह) थी और समस्त समष्टि का आधार वह एक देह **ही** थी। नाम-रूप में देह के साथ तद्रूपता में यह देह व्यष्टि बन गई और जीवात्मा स्वयं में एक नाम-रूप की देह के साथ बंध गया, कि मैं (जीवात्मा) अमुक-अमुक हूँ। **देह का रूप हर क्षण**

परिवर्तनशील है। देह का रूप हर क्षण रूपान्तरित होता है, क्योंकि देह काल से बंधी है। किसी को बहुत वर्षों बाद मिलें, तो उसके रूप से हम उसे नहीं पहचान पाते, फिर उसके नाम से उसकी पहचान होती है। अतः उस परिवर्तनीय रूप को तथाकथित स्थिर रखने के लिए एक नाम दे दिया जाता है। पैदा हुआ तो नाम रखा–गिरधारी लाल। **बच्चा** गिरधारी लाल, **युवा** गिरधारी लाल, **प्रौढ़** गिरधारी लाल, **बूढ़ा** गिरधारी लाल और **मरा** गिरधारी लाल। सब अवस्थाओं में रूप बदला हुआ था, लेकिन नाम एक ही था। रूप उसी प्रकार परिवर्तनशील है, जिस प्रकार देह परिवर्तनशील है। **यह परिवर्तन देह का धर्म है, उसका सद् है।** रूप निरन्तर परिवर्तित होता है, इसलिए रूप को एक नाम से बाँध दिया। यह आवश्यक नहीं, कि हम किसी को रूप से पहचानें, हम उसे नाम से भी पहचानते हैं।

मानव-देह के चार सद् व धर्म हैं। देह नश्वर है। इसकी **नश्वरता** ही इसका **'सद्'** है। यह पैदा हुई है और अवश्य जाएगी। जिस देह को हमारे मनीषियों ने नश्वर होने के कारण मिथ्या कहा है, हमने उसकी **नश्वरता** को ही इसका **'सद्'** माना है। **सद् वह है, जो कभी नहीं बदलता।** आज से करोड़ वर्ष पूर्व भी देह नश्वर थी और हमेशा नश्वर ही रहेगी। **अतः नश्वरता देह का सद् है।** जब तक इस **सद्** की सिद्धि नहीं होगी, तब तक हम ईश्वर की सिद्धि नहीं कर सकते। **नश्वर देह ही शाश्वत् सद् (ईश्वर) की प्राप्ति का साधन है।** देह का लक्ष्य **सद्** को पाना है। इसके लिए इसके मिथ्यात्व के **सद्** की सिद्धि परमावश्यक है। **सद् की अनुभूति के बाद कुछ भी असद् नहीं लगेगा। देह के साथ जुड़कर असद् भी सदासद् हो जाता है। देह का प्रथम सद् है, कि यह नश्वर है। देह का यह सद् शाश्वत है। दूसरे, परिवर्तनशील है, यह अकाट्य सद् है, कि देह प्रति पल परिवर्तनशील है। तीसरे, यह देह सीमित है और चौथे, यह देह व्यष्टि है।**

जीवात्मा और परमात्मा का अद्वैत में द्वैत सा ही है। जीवात्मा बिना तद्‌रूपता व अद्वैत के नहीं रह सकता। जीवात्मा वस्तुतः परमात्मा का मन है। जैसे हमारा मन हमसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मा अपने पिता

परमात्मा से भिन्न नहीं है। परमात्मा के रचाए हुए खेल की प्रशंसा के लिए जीवात्मा प्रकट होता है। **'मैं'** इसका शब्द रूप में प्राकट्य है। जब यह सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट एवं परम विलक्षण रचना इसे दी गई मानव-देह में एक नाम-रूप के साथ तद्रूप होता है, तो ईश्वर से स्वतः सिद्ध हुई अपनी वास्तविक तद्रूपता व अद्वैत को भूल जाता है। जब यह कहता है, कि **मैं'** (जीवात्मा) अमुक-अमुक हूँ, तो परमात्मा को भूल कर उससे विमुख सा होकर देह में एक नाम-रूप के साथ तद्रूप हो जाता है। **नाम-रूप की देह अलग है, जीवात्मा अलग है, दोनों में पक्का द्वैत है।** तद्रूपता जीवात्मा का सद् है। इसीलिए इसका जो अद्वैत परमात्मा के साथ था, वह देह के नाम-रूप के साथ हो जाता है और यह एक नाम-रूप की देह में तुच्छ सा जीव बन जाता है। **वहाँ से जीवात्मा ब्रह्म-सृष्टि से जीव-सृष्टि में भटकने लगता है।** जो सृष्टि मात्र एक खेल थी, वह इसके लिए झमेल बन जाती है और परमात्मा का इसे दिखाया जाने वाला सृष्टि का मेला ही झमेला बन जाता है। **जीवीय सृष्टि में जीवात्मा की दुर्गति हो गई।**

नाम-रूप की एक देह के साथ तद्रूपता में जीवात्मा जब जीव-सृष्टि में आया, तो शास्त्रकारों ने इसे जड़ता की संज्ञा दी है। **इस तद्रूपता में इसकी जड़ता दो प्रकार की है—जड़ तद्रूपता और अवचेतन तद्रूपता।** सुषुप्ति, मूर्च्छा, मृत्यु, गर्भावस्था, नशे की अवस्था आदि जड़ तद्रूपता है, कि जीवात्मा देह के साथ तद्रूप होता है, लेकिन इसका ज्ञान इसे नहीं होता। **'मैं'** (जीवात्मा) सोया **था, 'मैं' मरूंगा, 'मैं'** नौ महीने माँ के गर्भ में रहकर पैदा हुआ **था, 'मैं'** मूर्च्छित **था।** इन स्थितियों में जब इसकी देह होती है, तो जीवात्मा का **मैं** शब्द रूप में प्राकट्य भी नहीं होता, क्योंकि मैं सोया हूँ, मैं मरा हूँ, मैं माँ के गर्भ में हूँ, मैं मूर्च्छित हूँ, यह नहीं कह सकता। जड़ तद्रूपता के कारण यह मान लेता है, कि मैं सोया था। देह सोई थी, **'मैं' (जीवात्मा) तो महाचेतन है, जो कभी सोया ही नहीं। इसीलिए इसे जड़ तद्रूपता कहा गया है।** मेरा नुकसान हो गया, मेरा सब कुछ लुट गया, मेरा नफा हो गया, मैं बड़ा आदमी हूँ, मैं निकृष्ट हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यी

हूँ, मैं साधु हूँ, मैं चोर हूँ, मैं परोपकारी हूँ, आदि-आदि वक्तव्य अवचेतन तद्‌रूपता के द्योतक हैं। ये सभी वक्तव्य नाम-रूप की देह के जीवित व सक्रिय होने पर तथाकथित जाग्रतावस्था में देह के नाम-रूप की अवचेतन तद्‌रूपता में दिए जाते हैं। **जीव-सृष्टि की अवचेतन तद्‌रूपता में जीवात्मा तथाकथित जाग्रत होता है और जड़ तद्‌रूपता में इसका चेतन जीवात्मा स्वरूप सुषुप्त रहता है। इसका ज्ञान भी इसे तथाकथित जाग्रतावस्था की अवचेतन तद्‌रूपता में आकर होता है।**

ईश्वर के साथ तद्‌रूपता में जीवात्मा चेतन ही चेतन है। देह जब सुषुप्त होती है, तो यह जड़ तद्‌रूपता में रहता है और जब तथाकथित जाग्रत होती है, तो यह अवचेतन तद्‌रूपता में जीव बना जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में भटकता रहता है। गर्भावस्था, भ्रूणावस्था, शैशवावस्था, सुषुप्तावस्था, मूर्च्छावस्था, मृतकावस्था में जीवात्मा की देह के साथ जड़ तद्‌रूपता रहती है और इसका **मैं** शब्द रूप में प्रकाट्‌य भी नहीं होता। जीवात्मा का जब देह के नाम-रूप के साथ अद्वैत हो जाता है, तो इसकी समस्त जीव-सृष्टि जड़ और अवचेतन अद्वैतों में चलती रहती है। **जड़ अद्वैत** में इसे अपने आधि, व्याधि, उपाधि, पाप-पुण्य, रोग-दोष, सुख-दुःख, भय-त्रास, विक्षेप, देश-काल, लिंग, धर्म-कर्म, कर्तव्य-सम्बन्ध आदि की अनुभूति नहीं होती। एक रोगी है, उसे सुषुप्ति में अपने रोग का आभास नहीं होता, उठ कर पता चलता है, कि उसे कोई कष्ट है। कोई तनावित है, निराश है अथवा दुःखी है, तो उसे कभी-कभी चिकित्सक नींद का इंजैक्शन देकर सुला देते हैं। **नींद की गोलियाँ खाने से अथवा नशा आदि करने से कष्ट दूर नहीं होता, केवल अस्थायी रूप से महसूस नहीं होता।** पुनः जब यह अपनी तथाकथित जाग्रत अवचेतन स्थिति में आता है, तो इसका कष्ट दुगना हो जाता है। क्योंकि कष्ट को झेलने की क्षमता समाप्त हो जाती है। **अपनी चेतनता में आने के थोड़े बहुत अवसर भी जीव बना जीवात्मा खो बैठता है। इसीलिए नशे को हमारे शास्त्रकारों ने घोर पाप कहा है।** इस प्रकार एक ही जीवात्मा युगों-युगान्तरों से विभिन्न जन्मों में भटक रहा है।

जीवात्मा जब देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूप हुआ, तो इसकी ईश्वर के साथ तद्‌रूपता का रूपान्तरण हो गया। यह आनन्द-स्वरूप जीवात्मा से जीव बनकर जन्म-मृत्यु, जरा-रोग, आधि-व्याधि-उपाधि में ग्रसित हुआ आनन्दमय ईश-सृष्टि से जीव-सृष्टि में सुखी-दुःखी होने लगा। इसे दी गई देह के जो सद् थे, उन्होंने इसके सद् को आच्छादित कर दिया। **देह नश्वर व जन्मने-मरने वाली थी, सीमित, व्यष्टि और परिवर्तनशील थी। ये देह के सद् थे। जीवात्मा के अपने सद् थे, कि यह शाश्वत्, असीम, समष्टि रूप और अपरिवर्तनशील था। देह के साथ तद्‌रूपता में देह के सद् इसके असद् बन गए और यह विशुद्ध सच्चिदानंद जीवात्मा से असद् जीव बन गया।** हमारे कई मनीषियों ने मानव-देह को सीमित, परिवर्तनशील व नश्वर होने के कारण मिथ्या कहा है। मिथ्या देह नहीं है, **क्योंकि नश्वरता, परिवर्तनशील, सीमितता देह का सद् है। जीवात्मा की देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता मिथ्या है, असद् है।**

देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता में जीवात्मा ही असद् हो गया, देह असद् नहीं हुई। देह को असद् इसलिए घोषित किया गया, क्योंकि जीवात्मा का वर्चस्व है। जीवात्मा जन्म-मृत्यु से रहित था, यह जन्म-मृत्यु सहित हो गया। यह पाप-पुण्य रहित था, यह पाप-पुण्य सहित हो गया। यह अपरिवर्तनीय, असीम व समष्टि था, यह परिवर्तनशील, सीमित व व्यष्टि हो गया। जीवात्मा देह के साथ तद्‌रूपता में जीव बना हुआ ऐसी मान्यताओं व धारणाओं में विचरता है, कि मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यी व परोपकारी हूँ, मैं पैदा हुआ था, मैं मरूंगा, मैं रोगी हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं गरीब हूँ, मैं उच्च अफसर हूँ, मैं चपरासी हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, मैं जवान हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, आदि-आदि। जहाँ देह पर अधिपत्य करके यह कहा, कि मैं अमुक-अमुक हूँ, वहीं से असद् की अन्तहीन श्रंखला प्रारम्भ हो जाती है।

प्रवचन के प्रारम्भ में मैंने शिव-शक्ति-क्रीड़ा की चर्चा करते हुए बताया था, कि शिव की अतिशक्ति वैराग से प्रकट पंच-प्राणों की महाशक्ति में हुई क्रीड़ा से पंच-महाभूतों की साकार सृष्टि प्रकट होती है। इन सहज जड़

पंच-महाभूतों में शिव के वैराग की प्रतिरूप भस्मी अदृश्य रूप से समाहित रहती है, जो इनमें अविरल गति रखती है। **यह भस्मी ही पंच-महाभूतों के संगम और सृष्टि में समस्त निर्माण, पालन व संहार का कारण है।** इस समस्त साकार सृष्टि के अधिग्रहण, प्रस्तुतिकरण एवं प्रशंसा के लिए जीवात्मा को पंच-महाभूतों की मानव-देह दी जाती है। इस मानव-देह से नाम-रूप में तद्रूपता के कारण जीवात्मा परमात्मा के साथ अपना अद्वैत भूल सा जाता है और जीव बन जाता है। **जीवन में विभिन्न भविष्यों और आसक्तियों में भटकते जीव के सम्मुख अति कृपालु सद्गुरु उसके जीवन-काल में जीवन का भविष्य 'भस्मी' रख देता है।** जीवन **का** यह भविष्य निश्चित, दर्शित व परिलक्षित है। जीवन **में** अन्य भविष्य पूरे हों न हों, सम्मुख आएँ या न आएँ, इसकी कोई सुनिश्चितता नहीं है।

घी दूध से निकलता है। घी से बाती जलती है, लेकिन दूध से बुझ जाती है। घी के गुण दूध के गुणों से सर्वथा पृथक् हैं। घी को दुबारा दूध में किसी भी प्रकार मिलाया नहीं जा सकता। ईश्वरीय सत्ता चराचर जगत में दूध में समाहित घी की भाँति कण-कण में विराजमान है, इसलिए ऐश्वर्य, सौन्दर्य, शक्ति, ख्याति, ज्ञान और वैराग भी सब जगह होना ही चाहिए। लेकिन ऐश्वर्य सब जगह नहीं है, सौन्दर्य, ख्याति, ज्ञान, शक्ति, वैराग सर्वत्र नहीं हैं। जिस प्रकार दूध में सर्वत्र समान रूप से समाहित घी को मन्थन आदि विधियों द्वारा प्रकट करना पड़ता है, उसी प्रकार चराचर जगत में सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी ईश्वर का प्राकट्य अनिवार्य है। **जहाँ ईश्वरत्व प्रकट होगा, वहाँ उसकी छः विभूतियाँ भी प्रकट होंगी। एक बार ईश्वरत्व प्रकट होने पर पुनः वह सामान्य चराचर जगत का भाग नहीं हो सकता। जिन्होंने अपने भीतर के ईश्वरत्व को प्रकट किया, उन्हें संत व महापुरुष कहते हैं। जहाँ-जहाँ ईश्वरत्व को प्रकट किया गया है, उन्हें तीर्थ कहते हैं।** उस स्थान पर जाकर अकारण ही सबको विशेष सुख, शान्ति, सन्तोष और दिव्यता का अनुभव होता है।

ईश्वर का सहज स्वभाव है, कि वह सब पर अकारण कृपा करता

है। **उसकी कृपा से ही दिव्यता का प्राकट्य होता है।** दिव्यता के प्रकटीकरण के लिए अग्नि चाहिए। मानव-देह में 18 प्रकार की अग्नियाँ हैं। उनमें सर्वोत्कृष्ट तप अग्नि है। तप अर्थात् किसी को तपाना। **तप अग्नि से मानव ही देवत्व को प्राप्त कर सकता है। यह भौतिक प्रक्रिया नहीं है।** हम सबकी दौड़ जीवन **में** भविष्यों की ओर है। 16 प्रकार की एषणाएँ (वित्त, पुत्र, काम, नाम, धाम, राज, काज, साज, इष्ट, अभीष्ट, जीत, मीत, छल, बल, ज्ञान, ध्यान) जीवन **में** मानव को घेरे रहती हैं। एक चाहत पूरी होती है, तो हज़ार चाहतों को जन्म देती है। हमारे जीवन की निश्चित अवधि है। हमारी इच्छाएँ पूरी होती हैं, तो हम क्षणिक रूप से प्रसन्न होते हैं, लेकिन हम यह नहीं जानते, कि हमारे आन्तरिक मानसिक जगत में असन्तुष्टि और आसक्ति बढ़ती रहती है। हम आधि, व्याधि और उपाधि रोगों से घिरे रहते हैं। गिलास से लोटा, बाल्टी, ड्रम, कुँआ, नदिया का उदाहरण मैंने कई बार दिया है।

हम अपने सम्पूर्ण जीवन से क्या चाहते हैं, यह न हम जानते हैं और न ही जानना चाहते हैं। हमें अपनी प्राप्तियाँ नज़र आती हैं, लेकिन आन्तरिक अतृप्ति, असंतुष्टि व आसक्ति नज़र नहीं आती। जब हम देह पर अधिपत्य कर लेते हैं, हम दुनिया में अकेले पड़ जाते हैं। हमारी देह भी अपनी नहीं रहती, वहीं हमारा असद् जीवन प्रारम्भ हो जाता है। तब न देह हमारी रहती है, न देह पर आधारित जगत हमारा रहता है। जब हम देह को स्वयं से पृथक् मानेंगे, तो देह और समय-समय देह पर आधारित जगत हमारा होने लगेगा। **हमारी देह हमारे पास तब आएगी, जब हम देह को स्वयं से दूर कर देंगे। जिस दिन हमारी देह से बनने लगेगी, उस दिन से सारा जगत हमारा होने लगेगा। जीवन का भविष्य यदि हम जीवन में देख लें, यही तप अग्नि का आधार और परिणाम है।** यहीं से विरक्ति का बीजारोपण होगा। जहाँ विरक्ति का पदार्पण होगा, वहीं से आसक्तियाँ समाप्त होनी प्रारम्भ हो जाएँगी।

अति आसक्त व्यक्ति मृतक के समान है। शिव की अति शक्ति

महाविरक्ति है। इससे पंच-प्राणों की महाशक्ति प्रकट होती है। यह महाशक्ति (पंच-प्राण) अतिशक्ति (वैराग) में समाहित रहती है, वहीं से प्रकट और लीन होती रहती है। इसे शिव-शक्ति-क्रीड़ा कहते हैं। इस क्रीड़ा में पंच-महाभूतों का प्रकाट्य होता है, जो सहज जड़ हैं, लेकिन युगों-युगान्तरों से सतत्, अविरल गतिशील हैं। इनसे गति करवाई जा रही है। इनकी गति Highly purposeful, thematic, qualitative & specific है। क्योंकि ये स्वयं सहज जड़ हैं, इनसे सहज चेतन गति करवा रहा है। **सहज जड़ का चेतन के आगे कोई प्रतिरोध नहीं है।** हमारी क्रियाओं के पीछे हमारा अपने हिसाब से कोई न कोई उद्देश्य रहता है। हम जीवन **में** भविष्यों के लिए **करते** हैं और जीवन में ही बहुत कुछ **खोता, प्राप्त** होता और **होता** रहता है, जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।

दुर्गति-सद्गति में यही अन्तर है, कि जो गति प्रभु करवाएँ, वह सद्गति है और जो गति अथवा क्रियाशीलता हम स्वयं करते हैं, उसमें हमारी दुर्गति होती है। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश व अग्नि सद् के निर्देशन में गति करते हैं, अतः वे प्रलय भी ला दें, तो वह **'सद्'** होगी। **पृथ्वी भूकम्प लाए तो सद्, जल में सुनामी आए तो सद्।** सद् मर्यादा-अमर्यादा दोनों से अतीत है। उसकी मर्यादा यही है। **सद् पाप-पुण्य से परे होता है।** गति के लिए शक्ति चाहिए। **सहज जड़ में सहज गति होती है।** इसका अर्थ है, कि उसमें सहज शक्ति होनी चाहिए। **उसकी सहज शक्ति का नियन्त्रण भी सहज चेतन के हाथ में होना चाहिए।** पंच-महाभूत सहज जड़ हैं, इनकी अपनी कोई शक्ति नहीं है। **सहज जड़ की गति यदि हम देखें, तो हमें ईश्वरत्व का ज्ञान हो जाएगा। सहज जड़ में स्वतः होती गति का सब लाभ उठा सकते हैं। लेकिन इनका भरपूर लाभ वह उठा पाएगा, जिसका मन ईश्वर के चरणों में समर्पित होगा।** इनकी गतियों की शक्ति शिव का वैराग है, जो अदृश्य भस्मी के रूप में समाहित रहता है। इन पंच-महाभूतों में अपनी कोई आसक्ति नहीं है, क्योंकि ये सहज जड़ हैं।

गतिमान पृथ्वी है, लेकिन सूर्य स्थिर है। अस्थिर, स्थिर की परिक्रमा

करता है। जो पृथ्वी परिक्रमा कर रही है, उसकी गति बहुत सुन्दर, नियमबद्ध, गुणात्मक है, क्योंकि वह स्थिर की परिक्रमा कर रही है। **स्थिर के लिए जो गति होगी, वह गुणात्मक होगी।** उसमें संहार व विध्वंस भी उपयोगी होगा। जीवात्मा के स्थूल, सूक्ष्म व कारण की **'मैं'** एक ही है। लेकिन **'मैं'** (जीवात्मा) का अस्तित्व **'तू'** (ईश्वर) से है। इसे दी पंच-महाभूतों की एक मानव-देह सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का संघनित रूप होती है। **'मैं'** चेतना है, यह देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूप होकर अवचेतना बन गया। यह **'मैं'** का घोर पतन था। **इस 'मैं' की महत्ता, देह की महत्ता से होती है। 'मैं'** सबकी एक ही है और **'भस्मी'** सबकी एक ही है। **'मैं'** के प्राकट्य के लिए जीवित सक्रिय देह चाहिए और भस्मी के प्राकट्य के लिए निर्जीव मृतक देह चाहिए। **प्रायः जीवन में हमारी 'मैं' और 'भस्मी' दोनों का मूल्यांकन दैहिक आधार पर होता है।** उदाहरणतः भौतिक रूप से अत्यन्त समृद्ध और प्रसिद्ध व्यक्ति के लिए कहा जाता है, कि मरने पर उसकी भस्मी को गंगा में प्रवाहित करने हज़ारों लोग गए। परन्तु उसकी भस्मी तो सबके जैसी डेढ़-दो किलो थी। यह तो नहीं कि वह बड़ा आदमी था, तो उसकी एक ट्रक भस्मी थी।

'मैं' जीवात्मा जो ईश्वर का इकलौता मानस-पुत्र है, उसका मूल्यांकन एक व्यक्तिगत सीमित तुच्छ देह से किया जाता है। देह से जो भी एकत्र किया, वह यहीं रह जाता है और **'मैं'** वैसा ही शून्य रह जाता है। फिर नंगा-भूखा पैदा हो जाता है अर्थात् **'मैं'** शून्य तो रहा। जबकि **'मैं'** समष्टि तत्त्व जीवात्मा है और **'भस्मी'** शंकर का शंकरत्व है। **'मैं' जीवात्मा** है और **'भस्मी' परमात्मा** है। **'मैं' दृष्टा (जीवात्मा) का शब्द रूप में प्राकट्य है और 'भस्मी' स्रष्टा (परमात्मा) का प्रतिनिधित्व करती है।** दोनों का प्राकट्य एक व्यष्टि देह से होता है। यह मानव-देह की अतुलनीय हैसियत है, जो मुझ (जीवात्मा) को मिली है। **'मैं'** (जीवात्मा) सक्रिय मानव-देह से प्रकट होता है। **'मैं'** कालातीत, देहातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, मायातीत, लिंगातीत और सर्वव्यापी समष्टि तत्त्व है।

व्यष्टि सक्रिय मानव-देह से मात्र उसका प्रकाट्य होता है। **'मैं'** देह से पहले भी था, देह के मध्य में भी हूँ और देह के बाद भी रहूँगा। इसी प्रकार **'भस्मी'** देह से पहले भी थी, देह के दौरान भी अदृय रूप में होती है और देह के पंच-महाभूतों में मिल जाने के बाद प्रकट हो जाती है। **यह अदृश्य भस्मी शिव का सक्रिय वैराग है।** इसीके कारण सहज जड़ पंच-महाभूतों की समस्त गतिविधि होती है। भस्मी के प्रकाट्य के लिए मृतक मानव-देह चाहिए। **शिव का प्रकाट्य संहार से होता है।** भस्मी शिवत्व की प्रतिनिधि है। **शिव वैराग है, जहाँ देह व देह पर आधारित जगत की कोई विधा नहीं रहती।** शमशान में शिव का वास है, जहाँ शान का शमन हो जाता है, वहाँ शिवत्व का प्रकाट्य होता है।

जहाँ **'मैं'** ने देह पर अधिपत्य किया, कि 'मैं देह हूँ', वहाँ जीवात्मा के लिए देह की जो भी शान है, उसका प्रकाट्य होता है। जीवात्मा को दी गई मानव-देह की यहाँ विशेष भूमिका है, जिसे समझना और जानना अनिवार्य है। देह ने ही **'मैं'** प्रकट की जो जीवात्मा का शब्द रूप में प्रकाट्य है और देह से ही **'भस्मी'** प्रकट हुई, जो शंकर के शंकरत्व का प्रकाट्य है। **'मैं'** की चेतना और **'भस्मी'** के स्वरूप को प्रकट करने के लिए भी देह की आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश **'मैं'** जीवात्मा देह रूप में प्रकट हुआ, तो जीव बन कर चेतना से अवचेतना बन गया और मृत्योपरान्त **'भस्मी'** रूप में प्रकट हुआ तो वह **'भस्मी'** जड़ थी। जीते जी **'मैं'** (जीवात्मा) ने अपनी **'मैं'** को नहीं देखा और जीते जी अपनी **'भस्मी'** के बारे में भी नहीं सोचा। वैराग को भूल कर अपनी ही स्वरूपगत सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य और ख्याति विभूतियों को देह में और देह द्वारा प्राप्त करने के लिए संघर्षरत रहा। परिणामस्वरूप अशक्त व आसक्त जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में जीव बनकर भटकता रहा। यदि जीते जी **'मैं'** और **भस्मी** का समन्वय हो जाए और उस दिशा में कृत्य हों, वही मानव-जीवन है। जब तक हमारी **'मैं', 'भस्मी'** से नहीं मिलेगी, तब तक हम आसक्तियों से घिरे हुए जीव ही रहेंगे।

जीव-भाव में आते ही सर्वप्रथम हमारी चारों बुद्धियाँ विवेक, मेधा, प्रज्ञा

और ऋतम्भरा आच्छादित हो गईं और जीवात्मा देह बनकर वैराग को भूल गया। मृत्योपरान्त वैराग रूप में जो भस्मी प्रकट होती है, वह जड़ भस्मी है। देह के रहते हुए जब भी **'मैं'** प्रकट हुआ, तो जीव-भाव में अवचेतन रहा। उसकी देह की समस्त सक्रियता अवचेतना में ही हुई। मानव-देह की सक्रियता मात्र इसीलिए होनी चाहिए थी, जिससे **'मैं'** जीवात्मा अपने चेतन स्वरूप की अनुभूति कर ले। जीते जी भस्मी की अवधारणा द्वारा (मैं भस्मी हूँ) उसकी पंच-महाभूतों की देह में अदृश्य रूप से भस्मी रूप में समाहित शिवत्व (वैराग) जाग्रत हो जाए। **किसी भी तरह से और सब तरह से 'मैं' (जीवात्मा) देह के होते हुए स्वयं को भस्मी के साथ पहचान ले, यही मानव-जीवन का लक्ष्य है। तब वह देह ही शिव स्वरूप हो जाएगी।**

तीन योग हैं—सुषुप्ति योग, मृत्यु योग और भस्मी योग। जब नींद से उठकर 'मैं' अपनी 'निद्रा' को देख ले, तो वह 'मैं' (जीवात्मा) की जागृति है। जब वह देह की 'मृत्यु' को देख ले, तो वह 'मैं' (जीवात्मा) का अमरत्व है और जब 'भस्मी' देख ले, तो वही 'मैं' जीवात्मा का शिवत्व है। फिर उस देह द्वारा हुआ प्रत्येक कृत्य अमर हो जाएगा, फिर उसकी समस्त क्रियाएँ **विधाता** द्वारा प्रेरित, संचालित और समाप्त होंगी। भाग्य का लेखा-जोखा विधि (ब्रह्मा) के नियन्त्रण में होता है। यह भाग्य तब बनता है, जब **'मैं'** जीव बनता है। जब **'मैं'** जाग्रत हुआ तो विधि, प्रारब्ध सब हट गए। विधि के समस्त नियम कानून जीवों पर लागू होते हैं:—

''लाभ-हानि, जीवन-मरण, यश-अपयश सब विधि हाथ।''

जीवात्मा तो अकाल पुरुष की इकलौती संतान है, जो अपने पिता परमात्मा द्वारा उसी के मनोरंजन के लिए रचाए गए सृष्टि के खेल का दृष्टा है। इस खेल को वह पंच-महाभूतों से निर्मित, पालित और संहारित एक नाम-रूप की देह का अवलम्बन लेकर देखता है और सृष्टि-कर्ता की वाह-वाह करता है। पहले जीवात्मा देह-भाव ओढ़ कर अपने पद से अपदस्थ हो गया था। अब उसे दी गई देह का मूल्यांकन उसके जीवात्मा स्वरूप से होता है। **वैराग जाग्रत हो जाता है और वह शिव-स्वरूप हो जाता है।** वह

'मैं' भस्मी हूँ, के भाव में रहता है और उसकी देह का मूल्यांकन चेतन भस्मी से होता है।

अतः अति सद्गुरु-कृपा से जीव बना जीवात्मा तथाकथित जाग्रतावस्था की अवचेतन तद्रूपता में और पंच-महाभूतों की देह की सक्रियता में, जब इस भस्मी की अवधारणा करता है, तो इसकी पंच-महाभूतों की देह के कण-कण में समाहित व अदृश्य भस्मी चेतन हो जाती है। इसमें शिव की अति शक्ति वैराग जाग्रत हो जाता है। **'मैं'** और **'भस्मी'** के समन्वय से धीरे-धीरे परमात्मा के साथ अक्षुण्ण अद्वैत की इसे अनुभूति होने लगती है। यह अपना खोया हुआ सच्चिदानंद, सहज-सुखराशि, अविनाशी स्वरूप प्राप्त कर लेता है। समस्त साकार नाम-रूपात्मक सृष्टि इसके लिए अपने इष्ट की लीला बन जाती है। सृष्टि की हर विधा में यह परमात्मा का दर्शन करता हुआ मस्त रहता है और स्रष्टा की वाह-वाह करता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(29 जनवरी से 5 फरवरी 2007)

आसक्ति-विरक्ति

(भाग 1)

आज मैं बहुत ही दुर्लभ एवं परम रहस्यमय विषय **'आसक्ति-विरक्ति'** का शुभारम्भ कर रहा हूँ। आप सबकी अति एकाग्रता एवं परम श्रद्धा वांछनीय है। यह समस्त विषय अनुभूति का है। सम्पूर्ण कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन, संचालन और संहार करने वाली शक्ति शिव की **विरक्ति** है। मैंने **'सृष्टि, स्रष्टा एवं दृष्टा'** शीर्षक प्रवचनों में बहुत विस्तार से इस विषय की चर्चा की है। इस **विरक्ति** को हम मानव, जीवन पर्यन्त भूले रहते हैं और **जीवन में** विभिन्न चाहतों से घिरे हुए किसी न किसी **आसक्ति** में देह छोड़ते हैं। प्रभु ने हमें सम्पूर्ण कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों में अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना मानव-देह सहज में ही दी है और इसके साथ मानव-जीवन भी दिया है।

जीवन शास्त्रीय शब्द है और इस शब्द में ही इसकी विशेषता एवं सार्थकता अन्तर्निहित है। इसका अंग्रेजी अनुवाद Life नहीं है। जीव+न= जीवन, हम भारतीयों को प्रभु ने मानव-देह के साथ मानव-जीवन भी दिया है, कि तू स्वयं को पहचान ले, तू **'जीव'** नहीं है, बल्कि विशुद्ध जीवात्मा है। तू ईश्वर का अंश एवं उसी की भाँति सच्चिदानंद अजर, अमर, छः विभूतियों से सम्पन्न एवं सहज सुखराशि है। **मानव-देह धारण करके जीवन-काल में यदि हमारी समस्त क्रियाओं का उद्देश्य इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं है, तो उसे मानव-जीवन नहीं कहा जा सकता।** मानव-जीवन जीने के लिए मानव देहधारी होना आवश्यक है, परन्तु यह आवश्यक नहीं, कि मानव-देह प्राप्त करके हम मानव-जीवन भी जी रहे हों।

मैंने इष्ट-कृपा से आत्मानुभूति के आधार पर मानव-जीवन की सम्पूर्ण इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं को सोलह वर्गों में बाँटा है—पुत्रेष्णा, वित्तेष्णा, नामेष्णा, कामेष्णा, धामेष्णा, राजेष्णा, काजेष्णा, साजेष्णा, इष्टेष्णा, अभीष्टेष्णा, छलेष्णा, बलेष्णा, जीतेष्णा, मीतेष्णा, ज्ञानेष्णा, और ध्यानेष्णा। इनमें एक इच्छा जब पूर्ण होती है, तो एक हज़ार इच्छाओं का रूप ले लेती है। अतः इच्छा पूर्ति अन्ततः इच्छा अधूर्ति ही रहती है। **सोलह की सोलह हज़ार इच्छाओं की पूर्ति के बाद वस्तुतः हम पाँच प्रकार की मनःस्थिति चाहते हैं, जिनका दृश्यमान साकार जगत में प्रकट धन-सम्पदा, वस्तुओं, पदार्थों, प्राणिओं, शक्तियों और इनसे सम्बन्धित विधाओं से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।** सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य एवं ख्याति मानसिक स्थितियाँ हैं। जीवात्मा की फितरत में मानसिक रूप से ये पाँचों ईश्वरीय विभूतियाँ हैं और साथ ही वैराग भी है। ये पाँचों मानसिक स्थितियाँ आच्छादित इसलिए हुईं, क्योंकि नाम-रूप की देह के साथ तद्‌रूपता में जीव बना जीवात्मा, वैराग को भूल गया और जाने-अनजाने में उसे बिल्कुल उपेक्षित कर दिया।

वैराग शिव की अति शक्ति है, जिससे प्राण, अपान, समान,उदान एवं व्यान प्राणों की महाशक्ति प्रकट हुई। अतिशक्ति और महाशक्ति की शिव-शक्ति-क्रीड़ा का प्रकाट्य पंच-महाभूतों की साकार एवं दृश्यमान सृष्टि के रूप में होता है। **प्राण** प्राण से **अग्नि, अपान** प्राण से **वायु, समान** प्राण से **पृथ्वी, उदान** प्राण से **जल** और **व्यान** प्राण से **आकाश** का प्रकाट्य होता है। शिव की अति शक्ति वैराग अदृश्य भस्मी के रूप में इन पाँचों महाभूतों के कण-कण में समाहित रहती है। पंच-प्राणों की पाँच ईश्वरीय विभूतियाँ **प्राण** प्राण से **शक्ति**, **अपान** प्राण से **ख्याति**, **समान** प्राण से **ऐश्वर्य**, **उदान** प्राण से **सौन्दर्य** और **व्यान** प्राण से **ज्ञान** जीवात्मा का सहज स्वरूप है। मैंने **'जीव-ज्योति'** प्रवचन में जीवात्मा का स्वरूप बताया था—'चुटकी भर भस्मी के ऊपर टिमटिमाती हुई पंच-प्राणों की लौ।' जीव बना जीवात्मा चुटकी भर भस्मी और पंच-प्राणों के ज्योतिपुंज, दोनों को भुला कर समस्त साकार

सृष्टि का आधार पंच-महाभूतों की मानव-देह को अपना स्वरूप मान बैठा। **'मैं'** जीवात्मा का शब्द रूप में प्रकाट्य है। मैं अमुक-अमुक हूँ (देह का नाम-रूप) यह भाव आते ही पंच-प्राणों की महाशक्ति और अतिशक्ति वैराग (चुटकी भर भस्मी) दोनों से वंचित **सा** हुआ, जीवात्मा अपनी मानव-देह और जगत की विविध विधाओं में सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति की आसक्ति लिए हुए जन्म-जन्मान्तरों के काल-चक्र में युगों-युगान्तरों से भटक रहा है। **देह को अपना स्वरूप मानने के भ्रम में जीवात्मा की जीव-सृष्टि में अधोगति होने लगी और इसे दी हुई मानव-देह लक्ष्य-भ्रष्ट हो गई।**

केवल मानव को ही ईश्वर ने दैहिक, बौद्धिक एवं मानसिक तीन शक्तियों से नवाज़ा है। दैहिक और बौद्धिक, दो शक्तियाँ देह की हैं और तीसरी मानसिक अथवा आध्यात्मिक शक्ति देह की नहीं है। दैहिक शारीरिक शक्ति देह की है, देह में है, लेकिन यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि असंख्य पशु-पक्षियों में यह शक्ति मानव से कहीं अधिक मात्रा में होती है। मानव को जो दूसरी **बौद्धिक शक्ति** प्राप्त है, वह **ईश्वरीय चेतना** का प्रतीक है। यह शक्ति बहुत उत्कृष्ट एवं अति चमत्कारिक है। इस शक्ति के कारण ही मानव, समस्त मानवेतर प्राणी जगत में सर्वोत्कृष्ट एवं प्रशंसनीय है। बौद्धिक व शारीरिक शक्ति सब मानवों में पृथक्-पृथक् है और दोनों शक्तियाँ ही सीमित हैं। हमारी सबकी शारीरिक शक्ति कितनी भी अधिक हो, अन्ततः सीमित ही होती है। इसी प्रकार बौद्धिक दृष्टि से हम कितने भी विकसित हो जाएं, अन्ततः यह बौद्धिक शक्ति भी सीमित ही रहती है। हर व्यक्ति उतना ही सोच सकता है, जितनी उसकी बुद्धि है। इससे अधिक न वह सोच सकता है और न सोचने की कल्पना ही कर सकता है, क्योंकि हमारी कल्पनाओं की भी एक सीमा है।

तीसरी आध्यात्मिक शक्ति जो मानव को ईश्वर प्रदत्त है, वह देह **की** नहीं है। शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ देह में हैं और देह की हैं तथा सीमित हैं एवं सीमित ही रहती हैं। यह तीसरी आध्यात्मिक मानसिक शक्ति असीम है, जो ईश्वर ने मानव देह **को** दी है, लेकिन देह **की** नहीं है। प्रभु की

असीम कृपा का साक्षात् दर्शन इसी असीम मानसिक शक्ति से होता है। **यह शक्ति हमारी 'मैं' की है। 'मैं' हमारा जीवात्मा स्वरूप है, जो देहातीत व अदृश्य है। 'मैं' की इस असीम शक्ति को चाहे कितना भी संकुचित कर दिया जाए, तो भी यह असीम रहती है और इसका कितना विस्तार हो सकता है, हम मानव इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।** हम मानव नाम-रूप की देह को अपना स्वरूप मानकर मानसिक शक्ति को सीमित व संकुचित कर देते हैं, लेकिन यह आध्यात्मिक शक्ति कभी सीमित हो नहीं सकती। जिस प्रकार दैहिक, बौद्धिक सीमित शक्तियों की सीमाओं का हम कितना भी विस्तार कर लें, वे असीम नहीं होतीं। इसी प्रकार इस असीम मानसिक आध्यात्मिक शक्ति को हम कितना भी संकुचित व सीमित कर लें, यह असीम ही रहती है।

अध्यात्म उन विरले गिने-चुने जिज्ञासुओं के लिए है, जो देह और देह पर आधारित जगत से संतुष्ट हो चुके हैं। संतुष्ट तो देह में कोई नहीं होता, लेकिन हम में कल्पना करने की अद्‌भुत् शक्ति है। हम कल्पना अवश्य कर सकते हैं, कि और भी बहुत कुछ मिल गया तो क्या हो जाएगा ! अन्ततः सभी कुछ छोड़ कर जाना है और वह जीवन का अन्तिम दिन किसी भी दिन आ सकता है। इसीलिए प्रभु ने मुझे जहाँ रखा है, मैं ठीक व संतुष्ट हूँ। देह आनी-जानी है, नश्वर है, क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। दैहिक व बौद्धिक शक्तियों का कितना भी विस्तार हो जाए, फिर भी ये सीमित ही रहती हैं और सीमित ही रहेंगी। देह की **परिवर्तन-धर्मता** और **सीमित** फितरत को कोई परिवर्तित नहीं कर सकता।

हम बुद्धिजीवी मानव अपनी इस अदृश्य व अज्ञात आध्यात्मिक, मानसिक, असीम ईश्वरीय शक्ति को किसी न किसी रूप या अरूप में अवश्य मानते हैं। चाहे इसे Will Power (इच्छा-शक्ति) का नाम ही क्यों न दे दें, लेकिन मानते अवश्य हैं। इस मानसिक शक्ति की कोई Grading (स्तर) या नाप-तोल नहीं है, क्योंकि यह असीम है। शारीरिक शक्ति को चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से ग्रेड I, II, III, IV रूप में नापा-तौला जा

सकता है। इसी प्रकार आई. क्यू. या बौद्धिक शक्ति के विभिन्न स्तर हैं—सुपर जीनियस, जीनियस, सामान्य, इडियट, मंगोल, इम्बेसाइल आदि-आदि। लेकिन इच्छा-शक्ति की कोई Grading नहीं है। **देवी-देवताओं, इष्ट व सद्गुरु की शक्ति असीम है।** इसे नापा-तौला नहीं जा सकता। इसीलिए **'मैं'** (जीवात्मा) की असीम शक्ति की कोई Grading नहीं है। प्रश्न उठता है, कि अपनी इस शक्ति की गणना कैसे करें? **हमारी 'मैं' उतनी ही विस्तृत एवं महान है, जितना बड़ा हमारा 'तू' यानि परमात्मा है। 'मैं' वस्तुतः 'तू' ही है। परमात्मा ही दृष्टा भाव में जीवात्मा बनता है।** एक नाम-एक रूप, एक नाम-असंख्य रूप, एक रूप-असंख्य नाम, असंख्य नाम और असंख्य रूपों में हमारा इष्ट व सद्गुरु हमारे लिए जितना बड़ा है, हमारी अपनी **'मैं'** भी उतनी ही बड़ी है। **मानवेतर प्राणियों (जलचर, नभचर, थलचर) में यह 'मैं' की शक्ति नहीं होती।** इसीलिए पशु-पक्षियों को आध्यात्मिक शक्ति अथवा ईश्वर की कोई धारणा नहीं होती। ईश्वरीय प्रकृति उन्हें जैसा खिलाती है, खेलते हैं, वे प्रकृति का बाध नहीं कर सकते।

मानव अपनी इस असीम मानसिक शक्ति से प्रकृति का बाध कर सकता है और करता रहा है। योगी और भोगी दोनों प्रकृति का बाध करते हैं। योगी अपनी विस्तृत **'मैं'** को पाने (अपनी असीमता की अनुभूति) के लिए प्रकृति का बाध करता है और भोगी आसक्त व तुच्छ जीव बना हुआ प्रकृति का बाध करते हुए अपनी सीमित शक्तियों की सीमाओं का विस्तार करता रहता है। वह इसी को अपनी कर्मठता व प्रगति मानते हुए अन्ततः आसक्त व सीमित ही रहता है। सद्गुरु-कृपा से सीमित जीवन-काल की अवधि में जिस समय हम अपनी दैहिक व बौद्धिक सीमित शक्तियों के **समर्पण का समर्पण** कर देंगे, उसी समय हमें अपनी इस असीम मानसिक शक्ति की अनुभूति हो जाएगी एवं इसके द्वारा हमारा सम्पर्क उस ईश्वरीय सत्ता से हो जाएगा। इसलिए ईश्वर ने हमें मानव-देह देकर अनुग्रहीत किया है।

सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य एवं ख्याति मानसिक स्थितियाँ जीवात्मा की स्वरूपगत निधियाँ हैं। इनका आधार वैराग है। देह और देह

पर आधारित जगत की वस्तुगत विधाओं में इनका मायिक प्रकाट्य धन-सम्पदा, जन-बल, पद-प्रतिष्ठा, नाम-यश, दैहिक शक्ति, बौद्धिक ज्ञान, डिग्रियों आदि की विविध विधाओं में होता है। यह मायिक प्रकाट्य जीवात्मा को कभी संतुष्ट नहीं कर पाता। नाम-रूप की देह के साथ तद्‌रूपता में जीवात्मा, जीव बनकर वैराग को बिल्कुल उपेक्षित कर देता है और इनकी आसक्तियों में जन्मता-मरता रहता है। मैंने अपने प्रवचनों में गिलास से लोटा, बाल्टी, ड्रम, कुआँ और नदिया बनने की चाह का उदाहरण कई बार दिया है। आधा भरा गिलास रूपी जीव अतृप्त था। **उसे भरने की इतनी तीव्र इच्छा हुई कि मैं भर जाऊँ या मर जाऊँ।** सद्‌गुरु-कृपा से जप-तप, यज्ञ-हवन, देवी-देवताओं के व्रत-उपवास के रूप में उसने अपनी असीम शक्ति का प्रयोग, भरने के लिए किया। वह भर गया। कुछ समय के लिए अस्थायी रूप से प्रसन्न भी हुआ, लेकिन अपने से बड़े लोटे को देखकर इसकी अतृप्ति, असंतुष्टि में बदल गई। इसी प्रकार वह कभी लोटा, कभी बाल्टी, कभी ड्रम और कभी कुँआ और कभी नदिया भी बना, लेकिन अपनी सीमाओं के विस्तार की चाह बढ़ती ही रही। अन्ततः वह सीमित रहता हुआ किसी न किसी असंतुष्टि में आसक्ति लेकर मरा। उसी आसक्ति में पुनः किसी न किसी नाम-रूप की देह में पैदा हो गया। गिलास से नदिया बनकर भी जीव सीमित व असंतुष्ट रहते हुए नदिया के समान और-और प्राप्तियों की चाह में भागता है। **नदिया अपना नाम-रूप खो कर असीम समुद्र में मिली तो शान्त हो गई। लेकिन नदी को लगा अब तो मैं कुछ नहीं रही।** पता नहीं संसार की कितनी नदियाँ इसमें मिली हुईं हैं। सागर कहता है, कि अब हम ही हम हैं, तुम कुछ नहीं हो। यहाँ असीमता में समाहित होने के लिए उसे अपना नाम-रूप खोना पड़ा।

वही गिलास वास्तव में बुद्धिमान होता, तो सद्‌गुरु से प्रार्थना करता, कि मुझे कुछ नहीं बनना है। मुझे केवल परमात्मा से जुड़ना है। **सद्‌गुरु उसे सीधा समुद्र में कूदने का निर्देश देता और समुद्र में कूदने के बाद उसका अपना आयतन वही रहता। उसका सीमित जल उस महासागर**

में मिल जाता एवं उसके अधिकार सागर जितने हो जाते। उसे सागर किनारे खड़ा कुआँ भी निर्धन नज़र आता और उसमें उसे भी पानी देने की क्षमता होती। ये दोनों बिल्कुल भिन्न दिशाएँ हैं—पहली और साधारण जीवनचर्या में हम सद्गुरु की कृपा, उसके निर्देश में किए गये पुरुषार्थ कर्मों द्वारा अपनी सीमित दैहिक व बौद्धिक सीमाओं का विस्तार करना चाहते हैं, लेकिन अन्ततः सीमित रहते हैं और असंतुष्टि में आसक्ति लिए हुए मर जाते है। **मरते समय असंतुष्टि ही आसक्ति में बदल जाती है और हम आसक्त ही पुनः पैदा होते हैं। फिर अपना जीवन अतृप्ति से प्रारम्भ करते हैं।** यह सिलसिला, समय का चक्र (काल-चक्र) अतृप्ति-असंतुष्टि, आसक्ति, अतृप्ति-असंतुष्टि, आसक्ति में चलता रहता है। जीवन में हमारी प्राप्तियाँ अस्थाई भोग देती हैं। **लेकिन हम मानव-जीवन के वास्तविक 'अर्थ' से निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ के सोपानों पर असीम व अनंत अधोगति में पतित होते चले जाते हैं।** आपने पुरुषार्थ के चार सोपानों अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के बारे में सुना होगा। मैं मानव की ऊर्ध्वगति के इन सोपानों की चर्चा नहीं कर रहा हूँ। ईश्वर की चाह में जिन्होंने पुरुषार्थ किया होगा, उनको मैं प्रणाम करता हूँ। अर्थ और धर्म के मध्य जीवन में **'सार्थ'** या **'यथार्थ'** है, जो बिना विरक्ति के सम्भव नहीं है। 'अर्थार्थ' शीर्षक प्रवचनों में इसका सविस्तार वर्णन किया गया है।

आज मानव-जीवन का आधार **'अर्थ'** है। प्रवचन के प्रारम्भ में मैंने सोलह मुख्य एषणाओं की चर्चा की है। एक इच्छा पूरी होती है, तो हज़ार इच्छाओं में रूपान्तरित हो जाती है। किसी भी इच्छा के चार अंग होते हैं—इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल। **'अर्थ'** में इच्छा हमारी अपनी होती है और हम स्वयं इच्छुक बनकर अपनी असीम मानसिक ईश्वरीय शक्ति को इच्छापूरक बनाते हैं। यहाँ इच्छाफल, उस अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति अथवा अनचाही वस्तु का खोना होता है। **'अर्थ'** के सोपान पर प्राप्तियाँ होती हैं, अस्थायी भोग भी मिलता है, लेकिन संतुष्टि और आनन्द नहीं मिलता, क्योंकि इच्छापूर्ति के दौरान ही दूसरी इच्छा खड़ी होने लगती है।

असंतुष्ट फिर असंतुष्ट रहा और अन्ततः आसक्ति मिली। **आसक्ति में अशक्ति छिपी है।** हम और-और चाहते रहते हैं। प्राप्त करके अस्थायी रूप से भोग भी करते रहते हैं, लेकिन हमारी मानसिक स्थिति असंतुष्टि के कारण अशक्त ही रहती है। सोलह हज़ार इच्छाओं की पूर्ति में अज्ञात रूप से हम सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति की पाँच मानसिक स्थितियाँ चाहते हैं। ये पाँच मानसिक स्थितियाँ वैराग के आधार से प्रस्फुटित ईश्वरीय विभूतियाँ हैं, जो जीवात्मा की स्वरूपगत निधियाँ हैं। लेकिन जीव-भाव में जीवात्मा देह और देह पर आधारित जगत की विभिन्न विधाओं का इच्छुक बनकर अपनी मानसिक स्थिति को उपेक्षित किये रहता है।

इससे नीचे के वर्ग में **'निरर्थ'** है। **'अर्थ'** में तो जीव देवी-देवताओं, सद्‌गुरु-इष्ट से प्रार्थनाएँ, जप-तप, यज्ञ-हवन आदि करता है, लेकिन **'निरर्थ'** में अत्यधिक प्राप्तियों में भी असंतुष्टि के कारण तनावित रहता हुआ जीव ईश्वर को भूल कर अपने बलबूते पर और प्राप्तियाँ करना चाहता है, कि जप-तप, ध्यान, यज्ञ-हवन में समय बरबाद क्यों करना है, इस समय में और प्राप्तियाँ कर लो। अपनी इच्छा-शक्ति से भी यह कई प्राप्तियाँ करता है, **लेकिन यहाँ उसे अपनी ही प्राप्तियों का भोग नहीं मिलता।** उसके सामने उनका भोग अन्य वे लोग करते हैं, जिन्हें यह नहीं चाहता। तीसरा है **'व्यर्थ'। यहाँ बहुत मेहनत करने पर भी कुछ प्राप्ति नहीं होती। वहीं के वहीं रहते हैं।** **'अर्थ'** में प्राप्तियाँ हुई तो भोग मिला, लेकिन आनन्द व संतुष्टि नहीं मिली। **निरर्थ** में प्राप्तियाँ हुईं, लेकिन भोग नहीं मिला और **व्यर्थ** में बहुत मेहनत करने पर भी प्राप्तियाँ ही नहीं हुईं। अन्त में असीम व अनंत **'अनर्थ'** में, जो पहले अपने पास था, वह भी खोने लगा। **जीव फिर असीम अधोगति में गिरता ही चला गया। 'अर्थ, निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ** में आज अधिकतर हमारा मानव-जीवन बीत रहा है। अर्थ के चार स्तम्भों—1. इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक व इच्छाफल 2. अतृप्ति, असंतुष्टि, आसक्ति 3. शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक शक्ति 4. सृष्टि स्वतः निर्मित, पालित व संहारित—का विस्तृत वर्णन मैंने 'अर्थ' शीर्षक चार प्रवचनों में किया है।

दुर्भाग्यवश जीते जी स्वयं भी हमें अपना असंतोष दिखाई नहीं देता और मरणोपरान्त सब कुछ इसी सीमित जगत में छूट जाता है। **मृत्यु के समय वह असीम असंतोष ही आसक्ति बन जाता है।** एकत्रित किया हुआ सब कुछ सीमित था। जीव असीम आसक्ति को लेकर मरता है। कुछ उपलब्ध होने पर जिसे हम संतुष्टि कहते हैं, वह बहुत ही अस्थाई और क्षणिक होती है। **सीमित को बढ़ाने की लालसा का अन्त असीम असन्तोष में होता है**। सीमित की सीमाओं के विस्तार के साथ-साथ असंतोष का भी विस्तार होता जाता है। यही काल-चक्र है, जिसका कोई अन्त नहीं है।

ईश्वर ने हमें दैहिक और बौद्धिक दो सीमित शक्तियाँ दी हैं। **इनका दुरुपयोग जब हमने इन्हें बढ़ाने के लिए किया, तो ईश्वर ने हमें असीम असन्तोष दे दिया,** जिससे हम जन्मों-जन्मान्तरों में इन सीमित शक्तियों की सीमाएँ बढ़ाने के लिए ही भटकते रहे। **हमने असीम ईश्वर से सीमित का विस्तार मांगा। ईश्वर-प्रदत्त असीम मानसिक शक्ति का प्रयोग भी सीमित के विस्तार के लिए किया।** यह विस्तार भी स्वयं में असीम था, इसलिए असीम व अदृश्य असंतुष्टि का विस्तार भी होता रहा। पूरे ब्रह्माण्ड की भूमि भी मिल जाए, तो मृत्यु के समय मानव यही सोचता है, कि मैं सूर्य, चन्द्रमा को अपनी सीमाओं में नहीं ले पाया।

हमें परमात्मा ने मानव-देह दी है, तो हमें यह चिन्तन अवश्य करना चाहिए कि मैं जीवन **से** क्या चाहता हूँ, मैं कहाँ हूँ, क्या कर रहा हूँ? जो प्राप्त करना चाहता हूँ, वह मिल भी जाए तो क्या हो जाएगा! जब हम देह व जीवन **में** छोटे-छोटे लक्ष्यों व भविष्यों की चिन्ता से ऊपर उठते हैं, तब यह **देह-चिन्तन** प्रारम्भ होता है। **हमें मानव-देह में इस चिन्तन के लिए ईश्वर ने अपनी चेतनायुक्त बुद्धि दी है।** हम जानबूझ कर अनर्थ की ओर नहीं बढ़ते, लेकिन हमें पता है, कि हम अतृप्त व असंतुष्ट हैं और आसक्ति से परिपूरित हैं। जीवन प्रारम्भ हुआ है, एक दिन समाप्त हो जाएगा। देह की अवधि है। जो पाया है, वह खोना अवश्य पड़ेगा, लेकिन फिर भी अज्ञात रूप से हम अर्थ, निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ में ही लगे हुए हैं। ऐसा क्यों है? इसका

विश्लेषण करने के लिए आज से मैं **'आसक्ति-विरक्ति'** शीर्षक प्रवचनों की श्रंखला का शुभारम्भ कर रहा हूँ।

हम सब Income की ओर अंधा-धुंध दौड़ रहे हैं और इसका Outcome न जानते हैं और न ही जानना चाहते हैं। हर Income का Outcome अवश्य होता है। हमारी अपनी मानी हुई धन-सम्पदा, पद-प्रतिष्ठा, डिग्रियाँ, ज्ञान, नाम-यश, जन-बल आदि हमारी भौतिक Income है। हर Income का हमारे मानस पर जो प्रभाव पड़ता है, वह मानसिकता ही हमारा Outcome है। आनन्दमय मानसिकता के लिए Income करने की आवश्यकता नहीं है। **हम जो भी Income चाहते हैं, वह सुख, शान्ति, संतोष, सत्संग एवं आनन्दमय जीवन के लिए ही चाहते हैं।** दुर्भाग्यवश हमारी प्राप्तियों और उपलब्धियों का यह Outcome नहीं है। ऐसा क्यों है? जीवन के अन्तिम समय में मरते समय हम सब कुछ यहीं छोड़कर जाते हैं, यह हमें भली-भाँति ज्ञात है। हमारी Income यहीं रह जाएगी और हमारे साथ हमारा Outcome जाएगा, जिस प्रकार हर दिन के अन्त में सोते समय हमारा Outcome साथ जाता है। यदि income साथ चिपकी रहती है, तो रात में प्राकृतिक सहज व स्वतः निद्रा नहीं आती और नशा करके या नींद की गोलियाँ खाकर सोना पड़ता है। **निद्रा के लिए वह वैरागमयी मानसिकता अपेक्षित है, जिसमें नाम-रूप की देह व जगत का सब कुछ लय हो जाए।** आज **आत्मानुभूति** के आधार पर मैं **आत्मज्ञान** का बहुत महत्त्वपूर्ण रहस्य निद्रा में देखे गये स्वप्न के विश्लेषण द्वारा अनावृत कर रहा हूँ। आपकी अति एकाग्रता परम वांछनीय है।

कोई भी स्वप्न हमारी योजना से नहीं आता। एक **ईश्वरीय मानस** है और एक **मानवीय मानस** है। जब **'मैं'** (जीवात्मा) एक नाम-रूप की देह से जीव-कोटि में आ गया, तो उसकी **'मैं'** की असीम ईश्वरीय मानसिक शक्ति, सीमित मानवीय मन बन गई। मानवीय मन अशक्त, अस्थिर व अशान्त था। **ईश्वरीय मानस और मानवीय मानस के प्रारूप को सुबह उठकर रात्रि की निद्रा में देखे गये स्वप्न पर विचार करके बिल्कुल स्पष्ट**

रूप से समझा जा सकता है। स्वप्न देखते समय मुझे इसका ज्ञान नहीं था, कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। अतः मेरे लिए स्वप्न की वे सब स्थितियाँ दुःखी-सुखी करने वाली थीं। उसमें मैं भाग-दौड़ करता रहा। कुछ दिया-लिया, प्यार-घृणा सब कुछ वैसा हुआ, जैसाकि तथाकथित जागृति की सृष्टि में होता है। जागने पर भी मैं स्वप्न की उस सुख-दुःख भरी मानसिक स्थिति की अनुभूति करता हूँ, यद्यपि मैं जिस बिस्तर पर रात को सोया था, उसी से उठा हूँ, कहीं आया-गया नहीं। साथ ही स्वप्न में **'मैं'** भाग-दौड़ भी कर रहा था, सुखी-दुःखी हो रहा था। **मैं सो रहा था, मैं स्वप्न देख रहा था और मैं भाग-दौड़ कर रहा था, ये सब बातें साथ-साथ हो रही थीं।** मैं सो रहा था, इसका अर्थ है, कि मैं एक ही था। एक ही सोया और एक ही सो कर उठा। सुषुप्ति के दौरान ही मुझे स्वप्न आया, तो मैं स्वप्न में एक से अनेक में बदल गया। मैं एक नाम-रूप की देह था, उसके साथ अनेक सम्बन्धों में विभिन्न नाम-रूप थे। एक विशेष देश-काल परिस्थिति थी, मित्र-शत्रु, लाभ-हानि, सुख-दुःख बहुत कुछ था। स्वप्न का वह समस्त कार्य व्यवहार **'मैं'** के साथ **'मैं'** का ही था। नाम-रूप की देह और समस्त जगत की विभिन्न विधाओं के बीच वह सारा स्वप्न का खेल चला।

स्वप्न का **'सब कुछ'** जब हो रहा था और मैं देख रहा था, तो मुझे अपनी सुषुप्तावस्था (जिसमें मैं **'कुछ नहीं'** था) का ज्ञान नहीं था, इसलिए वह परिदृश्य मेरे लिए स्वप्न नहीं था। अब जागकर भी **'मैं'** उसी मानसिक स्थिति से प्रभावित हूँ। स्वप्न देखते समय मैं सो रहा था और मैं नाम-रूप की एक सृष्टि भी देख रहा था। **जो सो रहा था और जो देख रहा था, वह नाम-रूप की सृष्टि से परे था। वह मेरा जीवात्मा स्वरूप था।** उस विशुद्ध **'मैं'** का न कोई नाम था, न रूप। इसलिए नाम-रूप की देह पर आधारित उसका कोई जगत भी नहीं था। उसमें कोई क्रीड़ा नहीं थी, देह और देह पर आधारित जगत उसमें बना ही नहीं था। यदि निर्मित होता, तो पालित होता और संहारित होता। उस विशुद्ध **'मैं'** में जो सो रहा था और देख रहा था, उसमें तीनों कालों में कोई जगत था ही नहीं। उस एक **'मैं'** जीवात्मा ने

जीव बनकर स्वप्न की विभिन्न स्थितियों में विचरण किया। वही स्वप्न की एक नाम-रूप की देह में जीव बना। उसकी देह और उस पर आधारित जगत में क्रीड़ा हुई। उस जगत में **'मैं'** एक देह भी था और उस पर आधारित जगत के विभिन्न नाम-रूपों में भी **'मैं'** ही **'मैं'** था। अब तथाकथित जाग्रत होकर मुझे ज्ञान हुआ, कि मैं (नाम-रूप की देह) तो सो रहा था। मैं रात को एक नाम-रूप में ही सोया और उसी एक नाम-रूप में उठा हूँ।

'मैं' (जीवात्मा) वस्तुतः ईश्वरीय मानस है। उसके मानवीय मानस (जीव-भाव) से एक नाम-रूप की देह और उस पर आधारित विभिन्न नाम-रूपों की स्वप्न-सृष्टि जीव-सृष्टि के रूप में प्रकट हुई। यह तथाकथित जाग्रत होकर **'मैं'** जान जाता हूँ। यदि सपने में मैं हवाई जहाज में कहीं जाता हूँ, तो वह हवाई जहाज कौन सी फैक्टरी में बना होगा, उसका पायलट और कर्मचारी कहाँ से शिक्षित हुए, विमान में बैठे हुए अन्य यात्री कहाँ से आए, स्वप्न के पंच-महाभूत बारिश, आकाश में बादलों की गरज आदि कहाँ से आए। **स्वप्न में सब कुछ प्रकट हुआ और लीन हो गया अब उसका कोई चिन्ह भी शेष नहीं है।** यहाँ तक कि उस स्वप्न वाली देह की **भस्मी** भी नहीं है। इस प्रकार स्वप्न में सब कुछ एक निराकार मानस से प्रकट हुआ और उसी में लीन हो गया।

एक मेरी निद्रा की स्थिति है, जिसमें जगत बना ही नहीं है और एक स्वप्न-सृष्टि है, जिसमें जगत बना, जिसके दो पक्ष थे—एक नाम-रूप की मेरी देह और दूसरा उस पर आधारित जगत। इन दोनों पक्षों में क्रीड़ा हुई उठकर मुझे मालूम चला, कि वह सब सपना था। न वह देह थी, न वह जगत था, कुछ नहीं था। मैं रात को जिस बिस्तर पर सोया, उसी से उठा हूँ। यदि मुझे स्वप्न देखते समय यह ज्ञान होता, कि यह सब सपना है, तो मैं अपनी सुषुप्त स्थिति से स्वप्न का भरपूर आनन्द लेता। यहाँ एक सृष्टि, स्वप्न में प्रकट हुई। यह **'मैं'** (जीवात्मा) का **ब्रह्मा तत्त्व** है, **'मैं'** (जीवात्मा) **विष्णु तत्त्व** के रूप में उस सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त था, उसका लय हो जाना

जीवात्मा का **शंकरत्व** है। **'मैं'** ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश हूँ। सारा जगत प्रकट हो रहा है,पालित हो रहा है, लय हो रहा है।

'मैं' (जीवात्मा) जब देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूप होता है, तो देह और देह पर आधारित जगत प्रकट होता है। जीवात्मा के लिए एक नाम-रूप की देह उसी समय प्रकट होती है, जब वह देह के नाम-रूप की अवचेतना में आता है। नाम-रूप में Body Conciousness का Switch on होने पर देह प्रकट होती है और उस मानसिकता के अनुसार साथ ही साथ जगत भी प्रकट होता है। **जैसेकि स्विच ऑन करते ही बल्ब और उसके साथ ही पूरा कक्ष प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार जीवात्मा को दी गई देह में जब नाम-रूप की अवचेतना का स्विच ऑन हुआ, तो वह उस समय की मानसिक अवस्था के अनुसार प्रकट अपनी नाम-रूप की देह सहित जगत के विषय में भी Conscious हो जाता है। नाम-रूप की अवचेतना का स्विच ऑफ होते ही वह नाम-रूप की देह के साथ उस पर आधारित जगत के विषय में भी conscious नहीं रहता।** कक्ष में प्रकाश व्यवस्था का समस्त क्रिया-कलाप जिस प्रकार बल्ब के स्विच ऑन और ऑफ से होता है, उसी प्रकार देह सहित यह समस्त जगत नाम-रूप की एक देह की अवचेतना का स्विच ऑन व ऑफ होने से प्रकट तथा लीन होता है। नाम-रूप की अवचेतना के समाप्त होते ही सब कुछ संहार हो जाता है। **अंधकार में बल्ब भी दिखाई नहीं देता और प्रकाश में समस्त कक्ष के साथ-साथ बल्ब भी दिखाई देता है। बल्ब भी प्रकाश में दिखाई देता है और अन्धकार में बल्ब भी दिखाई नहीं देता।**

सद्‌गुरु अपने शिष्य से पूछता है, कि रात को जब तुम सोए थे और सुबह जब उठे, तो क्या हुआ था? कि महाराज ! जब मैं सोया था, तो रात ढल चुकी थी, साढ़े दस बजे थे और सुबह जब मैं उठा, तो दिन निकल आया था, आठ बजे थे। सद्‌गुरु पूछता है, कि रात ढलने और सुबह दिन निकलने में तेरा कोई हाथ था? कि 'नहीं महाराज।' इसका अर्थ है, कि रात दस बजे से सुबह दिन निकलने तक तूने कुछ नहीं किया, लेकिन बहुत कुछ

हुआ। अब दिन भर तू जो कुछ करेगा, वह भी स्वतः हो रहा है। यह आवश्यक नहीं, कि जो तू कर रहा है, वह हो रहा है, क्योंकि तेरे करने और होने में कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसेकि रात को दस बजे से सुबह आठ बजे के मध्य आए स्वप्न में तूने जो कुछ किया, वह कुछ नहीं हुआ। तू स्वप्न में कर कुछ और रहा था और यथार्थ में रात बीत रही थी, सुबह सूर्योदय हुआ, दिन निकला और प्रकृति में विभिन्न क्रिया-कलाप होते रहे। जब तुमने आँख खोली, तो जो रात भर हो रहा था, वह हो चुका था। स्वप्न की भाँति ही तू अब भी उठा हुआ है और **तू कर कुछ रहा है, परन्तु होगा वही जो मंजूरे-खुदा होगा। सृष्टि प्रकाट्य है।**

स्वप्न-जगत का सद् यही है, कि यह सपना है, जो देखते समय मालूम नहीं, कि सपना है। **निद्रा** का **सद्** यह है, कि वह एक मानसिक स्थिति है, जिसमें मेरी देह व जगत दोनों का लय हो जाता है लेकिन इसकी जानकारी भी सुषुप्ति (देह के साथ जड़ तद्रूपता) के कारण मुझे नहीं होती। **निद्रा में जीवात्मा की देह के साथ जड़ तद्रूपता है और स्वप्न में नाम-रूप की देह के साथ अवचेतन तद्रूपता है।** (द्वैत-अद्वैत शीर्षक प्रवचनों में मैंने जड़ एवं अवचेतन तद्रूपता का सविस्तार वर्णन किया है।) हमारी देह की समस्त क्रियाएँ और जगत में प्रकट समस्त विधाएँ, आर्थिक, सामाजिक स्तर, उन्नति-अवनति, लाभ-हानि, सुख-दुःख, नाम-यश, पाप-पुण्य और जो कुछ भी है, वह जीवात्मा की सुषुप्ति की जड़ तद्रूपता में देह के नाम-रूप की पहचान की अवचेतन तद्रूपता से होने वाला प्रकाट्य है। Everything erupts, spruts and manifests from our nothingness, moves in nothingness and merges into nothingness **महादुर्भाग्यवश हमें अपनी इस Nothingness अथवा निद्रा का कोई ज्ञान नहीं है। सुषुप्तावस्था की मानसिक स्थिति देहातीत है, इसीलिए उसमें कोई जगत भी नहीं होता।** तथाकथित जागकर भी मैं स्वयं को स्वप्न के नाम-रूप की देह मानता हूँ, इसीलिए स्वप्न की स्थितियों से प्रभावित रहता हूँ, कि देह रूप में **'मैं'** वही नाम-रूप हूँ। लेकिन अब यह दूसरा स्वप्न है, जो

बदल गया है। स्वप्न देखते समय मैने स्वयं को सोते नहीं देखा, इसीलिए वह सपना नहीं लगा। तथाकथित जागकर भी मैं अपने सोए हुए जीवात्मा स्वरूप को नहीं देख पा रहा इसलिए मेरी पूर्ण जागृति नहीं हुई। मुझे यह सब कुछ सपना नहीं लग रहा। **स्वप्न की मुझे स्मृति है, लेकिन अपनी सुषुप्तावस्था की स्मृति और अनुभूति मुझे है ही नहीं।** जबकि दोनों स्थितियाँ साथ-साथ थीं। स्वप्न का जगत देह के नाम-रूप की अवचेतना में होता है। देह और उस पर आधारित उस समय का जगत स्वप्न सृष्टि है। सुषुप्तावस्था वाली मानसिक स्थिति देहातीत है। जीवात्मा (मैं) की दोनों मानसिक स्थितियाँ साथ-साथ होती हैं।

मानव-देह पाकर भी हम अधोगति को ही प्राप्त हुए। हमने ईश्वर के छः गुण बताए थे—सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति और वैराग। अतिशक्ति विरक्ति से ही पंच-प्राणों की महाशक्ति प्रकट होती है, इसे शिव-शक्ति-क्रीड़ा कहते हैं। मानव-देह पंच-महाभूतों का संगम है। इसमें वैराग अदृश्य भस्मी के रूप में समाहित है। नाम-रूप की देह के साथ स्वयं को पहचान कर जब जीवात्मा जीव-सृष्टि में उतरा, तो वैराग की प्रतिरूप भस्मी को भूल गया और जीव-सृष्टि में उसका **सौन्दर्य**, **'काम'** बन गया, **शक्ति, 'क्रोध'** बन गई, **ऐश्वर्य, 'लोभ'** बन गया, **ख्याति 'मोह'** बन गई और **ज्ञान, 'अहंकार'** बन गया। साथ ही **विरक्ति** (वैराग) **'आसक्ति'** बन गई। **इस प्रकार देह के नाम-रूप की अवचेतना में वैराग या भस्मी की उपेक्षा में पाँचों प्राणों के गुण ही पंच-विकार बन गये।** हम विकृत हो गये। हमारी विरक्ति ही आसक्ति **(विकृति)** बन गई। विरक्ति प्रभु ने हमें दी थी। **निद्रा विरक्ति है, लेकिन उसका ज्ञान और अनुभूति न होने के कारण जड़ स्थिति ही रहती है।** हमारे जितने भी कृत्य हैं, वे सुषुप्ति में ही हो रहे हैं। **'मैं'** (जीवात्मा) अर्थ, व्यर्थ, निरर्थ और अनर्थ में अधोगति के असीम व अनन्त पतन में ही जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में युगों-युगान्तरों से भटक रहा हूँ। यह रहस्य हमें तभी पता चलेगा **जब निद्रा से उठकर हम जाग जाएँगे।** सद्‌गुरु कहता है—**उत्तिष्ठ-जाग्रत।**

तथाकथित जाग्रतावस्था में सद्‌गुरु की विशिष्ट कृपा से समाधि द्वारा मैं उस मानसिक स्थिति की अनुभूति करता हूँ, जिसमें जगत बना ही नहीं। वह मेरा ईश्वरीय आनन्दमय मानस तथा मेरी देहातीत स्थिति है। **उस मानसिक स्थिति में प्रविष्टि के बाद जब मैं जगत को देखता हूँ, तो जगत स्वप्नवत् प्रतीत होता है।** सद्‌गुरु-कृपा से देह में होते हुए भी ध्यान में, भाव समाधि द्वारा अथवा किसी भी प्रकार से इष्ट के प्रेम में जब हम अपनी नाम-रूप की देह व जगत को भूल जाते हैं और निद्रा के समान अभावमय आनन्द में सराबोर हो उठते हैं, तो मानों हम अपनी देहातीत मानसिक स्थिति की अनुभूति कर लेते हैं। इस स्थिति के ज्ञान और अनुभूति के बाद यह तथाकथित जाग्रतावस्था का स्वप्न चलता रहता है और इसके चलते हुए हमें इसकी स्वप्नवत् प्रतीति हो जाती है।

सद्‌गुरु इस प्रकार की जीवन की दिशा बदल देता है। वह सद्‌शिष्य को दिशा-निर्देश देते हुए कहता है, कि अपनी सीमित, दैहिक व बौद्धिक शक्तियों को अपनी असीम मानसिक (ईश्वरीय) शक्ति की अनुभूति के लिए प्रयुक्त कर। **असीम तो स्वयं में विस्तृत है ही।** तू अपनी उस असीम मानसिक शक्ति की किसी भी प्रकार से और सब प्रकार से अनुभूति कर। ईश्वर ने तुझे मानव-देह दी है और अपने आनन्दमय मन एवं उत्कृष्टतम् व चमत्कारिक चेतनामयी बुद्धि दे कर अनुगृहीत किया है। तू इसका दुरुपयोग मत कर। इसकी एक-एक श्वास कितनी अमूल्य है, तू इसे पहचान। सीमित दैहिक व बौद्धिक शक्तियों से ईश्वर ने जो तुझे अपनी असीम मानसिक शक्ति दी है, इसकी अनुभूति कर। **हर मानव को यह जन्मसिद्ध अधिकार है, कि वह अपने सच्चिदानंद-स्वरूप की अनुभूति कर सकता है।** इसकी अनुभूति के लिए ईश्वर ने दो सीमित शक्तियाँ दी हैं–दैहिक व बौद्धिक। हमें यह जानना और मानना आवश्यक है, कि हमारे पास एक तीसरी असीम ईश्वरीय मानसिक शक्ति भी है।

जीवन के किसी भी काल में, अनर्थ में पहुँच कर भी जीव सद्‌गुरु-कृपा से **जब अपनी समस्त सीमित शक्तियों के समर्पण का समर्पण कर देता**

है, तो उसके आर्तनाद तथा प्रार्थनाओं से द्रवीभूत हो कर प्रभु उसे गले से लगा लेते हैं। हम नित्य अपनी समस्त प्राप्तियों से परे होना चाहते हैं, लेकिन फिर भी निद्रा से उठकर पुनः उनके लिए थकते हैं। इस जीवन का अर्थ क्या है ? सोने **में** न हमारा नाम होता है, न रूप होता है और बाह्य जगत का कुछ भी नहीं होता, लेकिन आनन्द होता है। इस आनन्द की अनुभूति हमने कभी नहीं की। सोने **में** क्या होता है, यह नहीं जानते, लेकिन सोने **से** क्या होता है, यह हम जानते हैं, कि हम तरोताज़ा हो जाएंगे। **हम अभाव में जाने के लिए नहीं सोते, बल्कि थक कर सोते हैं, ताकि विश्राम पाकर पुनः कार्यरत हो सकें। अपनी भौतिक व बौद्धिक सीमित शक्तियों का विस्तार कर सकें। यदि हम यह जान जाएं, कि सोने में क्या होता है, तो सोने से जो हम चाहते हैं, (कि तरोताज़ा होकर और-और प्राप्तियाँ करें) वे चाहतें समाप्त होकर हमारी चहेतियाँ बन जाएँगी।**

इसलिए सदगुरु कहता है–'उत्तिष्ठ-जाग्रत'। नींद से उठ और अब तू अपनी अभावमय मानसिक स्थिति का अनुभव कर। नींद से तेरी देह उठी है, लेकिन तेरी **'मैं'** अभी भी सोई हुई है। हम नहीं जानते, कि सुषुप्ति में क्या है ? समाधि में हम देखते हैं, कि सुषुप्ति में क्या है? **'समाधि' वह मानसिक स्थिति है, जिसमें हम उठे हुए हों और अपनी नाम-रूप की देह और उस पर आधारित समस्त विधाओं से परे हों। यही हमारी अभावमय आनन्द की मानसिक स्थिति है।** देश-काल, धर्म-कर्म-कर्तव्य, लिंग, सम्बन्ध, सुख-दुःख, लाभ-हानि, माया के तीनों गुणों सभी का अभाव हो जाए, उस देहातीत स्थिति में **'मैं'** (जीवात्मा) जाग्रत हो जाएगी। यही मानव जीवन है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(18 फरवरी, 2007)

आसक्ति-विरक्ति

(भाग 2)

शिव वैराग का पूंजीभूत रूप है। इस अतिशक्ति और इसी से प्रकट पंच-प्राणों की महाशक्ति की क्रीड़ा को **शिव-शक्ति-क्रीड़ा** कहा जाता है। इस क्रीड़ा में पंच-प्राणों की महाशक्ति पंच-महाभूतों के रूप में प्रकट होती है और शिव का वैराग अदृश्य भस्मी के रूप में इन सहज जड़ पंच-महाभूतों में समाहित रहता है। **पाँचों महाभूतों के चमत्कारिक संगम से समस्त सृष्टि का निर्माण व पालन होता है।** अन्ततः संहार के बाद सृष्टि पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है और वह अदृश्य भस्मी प्रकट हो जाती है।

पंच-महाभूतों की इस कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि में सर्वोत्कृष्ट, अति उत्तम, अति रहस्यमय, अनुपम व अतुलनीय संरचना **मानव-देह** है। यह दुर्लभतम् मानव-देह प्रभु की अत्यधिक कृपावश हमें मिली है। इसे पाकर होश सम्भालने से लेकर, होश के दौरान और होश गुम होने तक हमारा सम्पूर्ण जीवन चार पहलुओं में चलता है—**करना, पाना, खोना और होना।** यह चारों स्तम्भ हम मानवों के जीवन-लक्ष्य में बाधा डालते हैं। **'जीवन'** को मैंने पारिभाषित व विश्लेषित किया था —**जीव+न अर्थात् मैं जीव नहीं हूँ, जीवात्मा हूँ।** मेरी समस्त क्रियाओं एवं शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक शक्तियों का लक्ष्य इस ओर ही हो, कि मैं जीव नहीं हूँ, इसलिए हमें उत्कृष्टतम मानव-देह दी गई है। प्रभु ने ही समस्त प्राणी जगत जलचर, नभचर व थलचर बनाएँ हैं, तो प्रभु हमें गधा, घोड़ा, साँप, बिच्छू, कीड़ा, कौआ, चील कुछ भी बना सकता था। लेकिन परम विशिष्ट कृपा से हमें

मानव-देह मिली है। इस उत्कृष्टतम्, परम विलक्षण व अद्वितीय मानव-देह को पाकर हम होश सम्भालने से होश गुम होने तक, होश के दौरान **करना, पाना, खोना और होना**—इन चार आयामों में अपने जीवन-लक्ष्य से भटक गए तथा हमारी अधोगति ही होती रही।

यह होश क्या है? **जैसे ही 'मैं' (जीवात्मा) स्वयं को देह के साथ नाम-रूप की अवचेतना में पहचानता हूँ—इसे होश सम्भालना कहा जाता है।** हम सबकी **'मैं'** एक ही है। यह जीवात्मा का शब्द-रूप में प्राकट्य है। यह **'मैं'** जब एक देह को किसी नाम-रूप की अवचेतना में पहचानता है, कि मैं अमुक-अमुक नाम का व्यक्ति हूँ—सृष्टि में इसे होश सम्भालना कहा जाता है। जब तक हम अपने नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होते, हम होश में नहीं होते। **मूलतः यहीं सबसे बड़ी गलती हो गई, कि जीवात्मा (मैं) ने एक मानव-देह को ही नाम-रूप में अपना स्वरूप मान लिया।** जबकि सभी मानव-देहों की **'मैं'** एक ही है। नाम-रूप की देह की अवचेतना का स्विच जैसे ही ऑन हुआ, तुरन्त स्वतः भाव से, वहीं हमारी मानसिकता के अनुसार उस समय का जगत विभिन्न नाम-रूपों में प्रकट हो गया। हमारी नाम-रूप की एक देह उस समस्त जगत का एक अंग है। जैसेकि हम किसी अँधेरे कमरे में जैसे ही बिजली का स्विच ऑन करते हैं, तो पूरा कमरा प्रकाश से भर जाता है। उसी प्रकाश में कमरे की सभी वस्तुओं के साथ वह बल्ब भी दिखाई देता है, जिसके जलने से सम्पूर्ण कक्ष प्रकाशित हुआ।

हम सबने अनुभव किया है, कि सुबह जैसे ही हम सो कर उठते हैं, तो पहले हमें स्वयं अपनी देह का ज्ञान होता है। हम उस देह के नाम-रूप की अवचेतना में आते हैं, **इसे हम तथाकथित जागृति अथवा होश में आना कहते हैं।** उससे कुछ क्षण पहले जब हम सो रहे थे, तो हमारे लिए हमारी देह नहीं थी और इसलिए कोई जगत भी नहीं था। **सोकर उठते ही नाम-रूप की अवचेतना में हमारी देह ही प्रकट नहीं होती, बल्कि उस समय की मानसिकता के अनुसार हमारा जगत भी प्रकट होता है।** उदाहरणतः सुबह उठते ही मूड खराब हो, नींद अच्छी न आई हो, रात को

दारू पीकर सोए हों, तो पत्नी, बच्चे, मौसम, पड़ौसी, समाज, देश सबको अपशब्द बोलते हुए, आलोचना-प्रत्यालोचना करते उठेंगे। हरेक की बातों का उल्टा अर्थ निकालेंगे। क्योंकि हमारी मानसिकता विक्षिप्त है, इसलिए हमें जगत भी वैसा ही नज़र आता है।

वेदान्त ने इसे एक सूत्र में पारिभाषित किया है :—'***जो पिंडे सो ब्रह्माण्डे***' Seer is the scene. Whenever, whatever we see that we are. हम जो देखते हैं, वह स्वयं को ही देखते हैं। जिस मानसिकता में हम नाम-रूप की देह की अवचेतना में होते हैं, **उसी के समानान्तर एवं उसी के समान अनुपात में हमारा उस समय का जगत प्रकट होता है।** उसी मानसिकता में हम दिन बिताते हैं और एक विशिष्ट मानसिकता को लेकर हम सो जाते हैं। बाह्य जगत में हमारी समस्त क्रियाएँ और व्यवहार पूर्णतः हमारे भीतरी आपे (मानसिकता) पर आश्रित है तथा उसी से प्रकट होता है। जगत हमसे भिन्न नहीं है, परन्तु एक देह के नाम-रूप की अवचेतना में हम जगत को स्वयं से भिन्न मान लेते हैं। देह के रूप में मुझमें और जगत में **कोई द्वैत नहीं है, अद्वैत है।** क्योंकि मेरा जगत मेरी मानसिकता पर आधारित है और उसी से प्रकट होता है। **इसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा में द्वैत नहीं है, अद्वैत है। 'द्वैत-अद्वैत' शीर्षक प्रवचनों में इस विषय का सविस्तार वर्णन किया गया है।**

अदृश्य जीवात्मा को 'मैं' शब्द में प्रकट करने वाली देह के नाम-रूप की अवचेतना में जीवात्मा को नाम-रूप की देह होने का भ्रम हो गया। देह का यह छोटा सा एहसान जीवात्मा के नाम-रूप की देह के साथ तद्‌रूपता का कारण बन गया। यह देह को **'मैं'** मान बैठा, कि मैं यह देह (नाम-रूप) हूँ। गिरधारी लाल नाम के व्यक्ति से पूछा जाए, कि उसकी देह में हाथ-पैर किसके हैं, नाक, आँख, कान, चेहरा किसका है? वह यही उत्तर देगा, कि मेरा। यह देह किसकी है? कि मेरी और आप कौन हैं? कि मैं गिरधारी लाल हूँ। यह कार किसकी है, कि मेरी। यह घर किसका है, कि मेरा। तो आप क्यों नहीं कहते, कि मैं कार हूँ या घर मैं हूँ। आप देह के लिए

ही ऐसा क्यों कहते हैं, कि देह मेरी है और मैं देह हूँ। कि ऐसा तो सभी कहते हैं। **अज्ञानवश, जाने-अनजाने में यह भूल हम सबसे हो रही है। देह के छोटे से अहसान में, कि देह की सक्रियता में 'मैं' शब्द प्रकट हुआ, जीवात्मा ने देह को ही अपना स्वरूप मान लिया। इस भूल से दूसरी भूल यह हुई, कि उस मानसिकता (जिस मानसिकता में जीवात्मा नाम-रूप की देह के साथ तद्‌रूप हुआ) में जो जगत प्रकट हुआ, उसे अपने से भिन्न मान लिया।** वह अपनी ही आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगा। सर्वप्रथम उसने ईश्वर से स्वयं को पृथक् माना, कि मैं अमुक-अमुक हूँ, दूसरे, जगत को स्वयं से भिन्न मान लिया। इससे इसका **drastic demotion** हो गया और इसे दी गई देह **लक्ष्य-भ्रष्ट** हो गई। वहाँ से यह भाव पैदा हो गया कि मैंने कुछ करना है, कुछ पाना है, कुछ खोना (छुटकारा पाना) है। तब ऐसा-ऐसा हो जाएगा। मैं परोपकारी हूँ, मैं समस्त देश, यहाँ तक कि विश्व को बदल दूँगा, आदि-आदि।

आध्यात्मिक लोगों की सक्रियता भौतिक जगत में छुटकारा पाने की ओर रहती है और भौतिक सांसारिक लोग और-और पाना चाहते हैं। **जैसे ही हम स्वयं को नाम-रूप की देह की अवचेतना (होश सम्भाल कर) में पहचानते हैं, वहीं से यह कर-कराहट प्रारम्भ हो जाती है।** हम सब सदा कुछ न कुछ कर रहे हैं और होश गुम होने तक करते ही रहते हैं। इस करने के कई रूप होते हैं—**स्वयं करना या दूसरों से करवाना,। स्वयं भी करना और दूसरों से भी करवाना। न स्वयं करना न दूसरों से करवाना, बल्कि दूसरों को करने व करवाने देना। न करना न करवाना, न करने-करवाने देना। मात्र करवाने देना, करना नहीं। थोड़ा करना, अधिक करवाना, अधिक करना, कम करवाना, जितना करना, उतना करवाना आदि-आदि।** मैं कोई कविता नहीं कर रहा हूँ, बल्कि हमारे जितने कृत्य हैं, उनका मूल यही है, उनका तना, फल-फूल सब यही हैं। **जहाँ 'कर' शब्द आ गया, वहाँ 'कर' (Tax) देना पड़ता है।** आयकर और बिक्री कर आदि के अतिरिक्त **जीवन में अनेक 'कर' ऐसे हैं, जो अघोषित हैं और हमें**

देने ही पड़ते हैं। जब हमने नाम-रूप में देह पर अधिपत्य कर लिया, तो इनसे कोई छूट नहीं सकता। पति 'कर', पत्नी 'कर', सन्तान 'कर', मकान मालिक 'कर', सास 'कर', बहू 'कर', बॉस 'कर', सेवा 'कर', भलाई 'कर', नौकर 'कर', उठ 'कर', बैठ 'कर', चल 'कर', विश्राम 'कर', सो 'कर', जाग 'कर', उत्थान 'कर', पतन 'कर', नाम 'कर', लाभ 'कर', हानि 'कर', जिसके साथ भी 'कर' लग जाता है, वह हमारे लिए सिरदर्दी बन जाता है।

जो विश्राम कर रहा है, साधना कर रहा है, पूजा कर रहा है, हवन कर रहा है, उसका विश्राम, साधना, पूजा, हवन बन्धन का हेतु हो जाएगा। हमारा समस्त जीवन इस कर-कराहट में ही बीतता है। करने की सभी विधाओं में हम सभी, कुछ न कुछ **पाना** या **खोना** चाहते हैं। क्योंकि कुछ न कुछ **होने** की आस होती है। बिना किए और करवाए भी लोग जीवन **में** कुछ न कुछ चाहते रहते हैं। तो **करना, पाना, खोना और होना आयामों में मानव-जीवन चलता है।**

जीवन में होश सम्भालने से, होश के दौरान और होश गुम होने तक 16 प्रकार की एषणाओं (वित्त, पुत्र, काम, नाम, धाम, राज, काज, साज, इष्ट, अभीष्ट, जीत, मीत, छल, बल, ज्ञान, ध्यान) के लिए हम कुछ न कुछ **करते हैं।** फिर कुछ पाते हैं या नहीं पाते हैं अथवा जो खोना चाहते हैं, खोता है अथवा और गले पड़ जाता है। **किया बहुत, लेकिन मिला कुछ नहीं अथवा जितना अपेक्षित था, उससे कम मिला। किया बहुत और जितना चाहा था, मिल गया अथवा अपेक्षा से अधिक मिला। किया कुछ, मिला कुछ और। किया, लेकिन जो पास में था, वह भी खो गया। कुछ नहीं किया, लेकिन बहुत कुछ मिल गया अथवा बिना कुछ किए बहुत कुछ खो गया।** कोई औलाद या सगा सम्बन्धी अथवा चोर लूट कर ले गया। इसके बाद कुछ न कुछ होता है। हर करने और पाने तथा खोने (छुटकारा पाना) में हम मानवों की एक अज्ञात मानसिकता रहती है, कि वह कुछ होना चाहता है। मेरा बेटा यह बन जाए, तो यह हो जाएगा। मेरे घर वह बहू बनकर आ जाए, तो यह हो जाएगा। मैं चुनाव जीत जाऊँ, फिर यह हो जाएगा। मेरा इस पद

से पीछा छूट जाए अथवा मेरा इस शहर से तबादला हो जाए, तो यह हो जाएगा। यह **'होना'** जीवन में हमारे लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। जिसका हमारे करने, खोने या पाने से कोई सम्बन्ध नहीं होता। विवेक-बुद्धि-मानव होने के नाते कभी हम यह तो सोचें, कि जो अभीष्ट हम चाहते हैं, वह जीवन **में** हो भी जाए, तो भी क्या हो जाएगा। जीवन **का** भविष्य सभी का एक ही है, वह है—**डेढ़ दो किलो भस्मी।**

जब हमने होश सम्भाला, यानि देह को नाम-रूप में पहचाना, हमें देह के साथ सब कुछ बना-बनाया मिला। घर-परिवार, समाज, देश, काल की विधाएँ, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश के विभिन्न रूप मिले। जिसके लिए हमने स्वयं कुछ नहीं किया। किसी भी प्राप्ति का सम्बन्ध हमारे किसी भी करने से नहीं था। हमें माँ-बाप, घर-परिवार, देश, धर्म हमारी अपनी किसी सोच या क्रिया से नहीं मिले। **इस मानव-देह में असंख्य क्रियाएँ स्वतः चलती हैं। कोई अपना हृदय, गुर्दे, फेफड़े आदि नहीं चलाता, लेकिन होश सम्भालते ही बुद्धि को हम स्वयं चलाना प्रारम्भ कर देते हैं। जब हमने बुद्धि पर अधिपत्य किया, तो 'कर-कर-कर' प्रारम्भ हो गई,** जिसके सारे अंग मैंने ऊपर बताए हैं। जीवन **में** विभिन्न प्राप्तियों के लिए जितना हम भटकते रहे और प्राप्त करते रहे, हमारा असंतोष और बढ़ता रहा। प्रवचन के प्रथम भाग में मैंने अर्थ, निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ सोपानों पर इस अधोगति के परिदृश्यों का वर्णन किया है।

हम सब जानते हैं, कि अन्ततः एक दिन हमारी देह से प्राण निकल जाएँगे। इसके भस्मी बनते ही करने, खोने, पाने और जीवन में जो-जो हुआ उसका महात्म्य हमारे लिए समाप्त हो जाएगा। वह भस्मी सबका निश्चित, दर्शित और परिलक्षित भविष्य है, जो सबका एक ही है। लेकिन फिर भी जीवन **में** 16 एषणाओं की पूर्ति के लिए हम संघर्षरत रहते हैं। एक इच्छा पूरी होती है, तो वह हज़ार अन्य इच्छाओं में रूपान्तरित हो जाती है। तो **इच्छा पूर्ति** वस्तुतः **इच्छा अधूर्ति** होती है। अन्ततः हम किसी न किसी असन्तुष्टि में मर जाते हैं। मृत्यु के समय असन्तुष्टि स्वतः आसक्ति में

रूपान्तरित हो जाती है। **आसक्ति ही अशक्ति है।** हम अशक्त, असन्तुष्ट, अतृप्त, और-और की चाह लिए मरते हैं और इसी मानसिकता में पुनः जन्म लेते हैं। सारा जीवन हम इसी प्रकार जीते हैं।

जीवन **का** भविष्य डेढ़ दो किलो भस्मी है, लेकिन तब जीवन समाप्त हो जाता है। Total outcome **of** life is **off** the life. जो जीवन **का** भविष्य है, वह जीवन के बाहर है, लेकिन वह जीवन **का** है, उसे हम उपेक्षित नहीं कर सकते। जो जीवन **के** बाहर है, **हम जीवन में उसकी कुछ देर के लिए अवधारणा कर लें, तो हमारी 16 हज़ार आसक्तियों में विरक्ति का जामन लग जाएगा।** भौतिक जगत में हम किसी से उसकी भौतिक शक्तियों, प्रतिभाओं, गुणों आदि को देखकर प्रेम करते हैं। किसी की Nothingness से प्रेम करके देखें, तो वह आपका अपना बन जाएगा। **'भस्मी'** देह का 'कुछ नहीं' (Nothingness) है। यह हमारी भस्मी जीवन **का** भविष्य है (Outcome **of** life is **off** the life)। जब हम जीवन में विभिन्न प्राप्तियों के लिए देह का दुरुपयोग करते हैं, तब हमारी देह ही हमारी सबसे बड़ी शत्रु हो जाती है। **मेरी देह ने कभी अपनी भस्मी नहीं देखी। यदि हम इसकी भस्मी से प्रेम करेंगे, तो यह हमारी होने लगेगी।** हमारी मुरीद हो जाएगी। यह ही वेद, शास्त्र, उपनिषदों का रहस्य अनावृत करने लगेगी, इसलिए **हमने देह को महापुराण की संज्ञा दी है।** भस्मी ही वस्तुतः हमारे सम्पूर्ण जीवन का Outcome है। जीवन **के** बाहर होते हुए भी यह outcome जीवन **का** है। यह जीवन **का** ऐसा सत्य है, जो होगा ही। जीवन **में** जो भी हम करते, खोते, पाते या होता है, उसका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। करने का पाने या खोने से नहीं है और खोने या पाने का होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्ततः **जो कुछ होना ही है, उसके बारे में हम जीवन में चिन्तन क्यों नहीं करना चाहते, जबकि हम सबको ज्ञान है, कि वह अवश्य होगा।** देह के भीतर असंख्य क्रियाएँ चलती रहती हैं, जिनका हमें कोई ज्ञान नहीं होता। न जाने अगले क्षण देह किस रूप में हमारे समक्ष आए। भीतर क्या हो रहा है और क्या बाहर प्रकट हो जाए? कोई भी श्वास हमारी अन्तिम श्वास हो सकती है।

सुबह उठने पर हमारा **होश** पूर्णतः हमारी **मानसिकता** पर आधारित होता है। हमारी मानसिकता हमारी निद्रा पर आधारित होती है, जैसी भी हमें निद्रा आई। यदि निद्रा ठीक से नहीं आई, तो रात्रि में सोते हुए भी अटपटे से स्वप्न आते हैं। छोटा बच्चा भी कभी-कभी सोते हुए डरता है। निद्रा की वह अभावमयी मानसिकता जिसमें **'मैं'** (जीवात्मा) अपनी देह और जगत के प्रति बिल्कुल भी Conscious नहीं होता, उसी में **'मैं'** (जीवात्मा) एक स्वप्न-सृष्टि में विचरता हूँ,। उसे देखते समय मुझे ज्ञान नहीं होता, कि यह स्वप्न है, क्योंकि मैं सोया हुआ होता हूँ। वह स्वप्न निद्रा में ही प्रकट हुआ। **न निद्रा होती, न स्वप्न आता।** वह स्वप्न-सृष्टि निर्मित नहीं हुई, बल्कि निद्रा की उस अभावमयी मानसिकता से Erupt, Sprut और Manifest हुई। स्वप्न-सृष्टि प्रकाट्य है, वह निद्रा में ही चलती है और निद्रा में ही समाहित हो जाती है। अपनी निद्रा हमने देखी नहीं। स्वप्न के जगत में इतना कुछ प्रकट हुआ, लेकिन अन्ततः कुछ नहीं हुआ। इसलिए जगत को शास्त्र ने **वंध्या-सुत** कहा है। मानव-देह धारण करके तथाकथित होश सम्भालते ही एक कर्म है, कि हम अपनी निद्रा को जान लें, Observation कर लें, देख लें, Visualisation कर लें जो समाधि है और अनुभव (Realisation) कर लें। यह समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है।

हमारे करने और पाने में कोई सम्बन्ध नहीं है तथा करने और खोने में भी कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वप्न में इतना कुछ किया, लेकिन उठकर जो उसमें पाया या खोया था अथवा जो कुछ भी हुआ था, उसका **'कुछ नहीं'** शेष रहा। **हम सांसारिक वस्तुओं से छूटकर छुटकारा पाना चाहते हैं, जो कभी भी सम्भव नहीं है।** कि मैंने घर-बार छोड़ दिया, अब मैं ईश्वर का चिन्तन करूंगा। यह करना रूपी 'कर' हमारी परम आनन्दमय और परम स्वस्थ मानव-देह को असंख्य रोगों से पीड़ित कर देता है। पद, धन, सम्पत्ति, घर-बार, रिश्ते-नाते छोड़कर या छूटकर **'छुटकारा पाना'** असम्भव है। लेकिन **'छुटकारा पाकर'** सब कुछ स्वतः छूट जाएगा। पकड़कर के साथ पकड़कारा शब्द नहीं है। हमारे शास्त्रकारों ने **'छुटकारा'** शब्द लिया है।

यह छुटकारा क्या है? यह एक अदृश्य दैवीय दस्तावेज़ है, जो हमें दैव-कृपा व सद्गुरु-कृपा से मिल जाता है।

हम धन, पद, डिग्रियों, स्त्री, सम्बन्धों, कर्तव्यों, धर्मों, कर्मों, नाम-यश आदि के मायाजाल में उलझे हुए हैं और इनसे छूटना चाहते हैं। **मैं पहली बार इस व्यास पीठ से उद्घोषित कर रहा हूँ, कि छूटकर या छोड़कर कभी भी 'छुटकारा' नहीं मिलेगा। 'छुटकारा' पाकर हम सब वस्तुओं के होते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होंगे। हम भव-बन्धनों से स्वतः छूट जाएँगे।** जिन्हें हम भूलना चाहते हैं, वे अधिक याद आते हैं, जिन्हें हम छोड़ना चाहते हैं, वे ज्यादा पकड़े जाते हैं। भूलकर किसी को भुलाया नहीं जा सकता। छूटकर किसी से छुटकारा नहीं मिल सकता। किसी कृत्य का Outcome क्या होगा? कुछ पाने अथवा खोने के बाद क्या होगा, उसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। **किसी कृत्य को करने के दौरान, जो पाना चाहते हैं, उसे पाने अथवा जिससे छूटना चाहते हैं, उसके खोने के बाद की हमारी मानसिक स्थिति पूर्णतः ईश्वर के हाथ में होती है।** जब हम नाम-रूप की अवचेतना में स्वयं करते हैं, तो क्या होगा, इसकी कल्पना करना भी हमारे लिए निषेध है–***'अल्ला जाने क्या होगा आगे।'***

अध्यात्म शहंशाहों का मार्ग है, जिसको **'कुछ नहीं'** चाहिए, वह शाहों का शाह। जब हम किसी से प्रेम करते हैं, किसी से जुड़ते हैं, तो उसके रुतबे, सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, नाम-यश आदि को देखकर जुड़ते हैं। हमारा प्रेम किसी न किसी शर्त पर होता है, हम कुछ चाहते हैं। यह आकर्षण उस व्यक्ति की किसी प्रतिभा, कलाओं व गुण के कारण रहता है। **जब हम किसी के 'कुछ नहीं' से प्रेम करें, तो उसका सब कुछ हमारा हो जाता है। वह व्यक्ति हमारा हो जाता है।** माशूक के दिए फूलों को सूख जाने पर भी आशिक सम्भाल कर रखते हैं। हमें ईश्वर ने बनी-बनाई उत्कृष्टतम् मानव-देह दी है, जिसे ईश्वर ही चला रहा है और वही इसे ले जाएगा। यह देह हमें एक ईश्वरीय योजना के तहत मिली है, इसे न हम जानते है और न ही जानना चाहते हैं, क्योंकि हमें **'कर-कर-कर'** से ही फुर्सत नहीं है। **हम**

करने, पाने, खोने और होने में अपना पूरा जीवन व्यर्थ ही नहीं, बल्कि नकारात्मक रूप से बिता कर आसक्तियों को लेकर मर जाते हैं। बहुत सी शक्तियाँ पाते हैं, लेकिन अशक्त ही रहते हैं और अशक्त ही पुनः जन्म लेते हैं तथा शून्य से फिर आरम्भ कर देते हैं।

जीवन में जो कुछ अर्जित करना चाहते हैं, वह चाह सशक्त होने के लिए होती है, लेकिन दुर्भाग्यवश **हमारे पास उन अर्जित शक्तियों को सम्भालने व भोग करने की शक्ति नहीं होती। अशक्त होने के कारण हम भयभीत रहते हैं।** वस्तुएँ व शक्तियाँ ही हमें तनावित रखती हैं। हमने एक उदाहरण दिया था, कि ट्रक के नीचे साइकिल के टायर लगा दिए जाएँ, तो टायर चकनाचूर हो जाएंगे और ट्रक बैठ जाएगा। **हमारी वस्तुएँ, हमारी प्राप्तियाँ, हमारे सम्बन्ध, स्त्री, सन्तान, धन-सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा, हमारी समस्त दैहिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ हमारे तनाव का हेतु बन जाती हैं, क्योंकि इन सब शक्तियों को सम्भालने के लिए 'विरक्ति' शक्ति का अभाव होता है।** जब विरक्ति होगी तो हमें शक्तियों के अर्जन के लिए भागने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। विरक्ति आने के बाद दैवीय कानूनों के अन्तर्गत समस्त शक्तियाँ हमारी ओर आने लगेंगी। **विरक्ति की शक्ति से सम्पन्न मानसिकता ही 'छुटकारा' है।** यदि वह अदृश्य दैवीय दस्तावेज प्रभु-कृपा से मिल जाए, तो सब कुछ होते हुए भी हम छूट जाएँगे।

इसी देह का एक **'कुछ नहीं'** भी है—वह है हमारी भस्मी। इसका निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य है। जीवन **का** यह भविष्य जीवन **के** बाहर है, लेकिन जीवन **का** है। यह ऐसा **होना** है, जो अवश्य होगा और किसी भी क्षण हो सकता है। जीवन में जो कुछ भी करना, पाना, खोना और होना होता रहता है, इन सबका अन्त यही **भस्मी होता** है। इसे हम सब जानते हैं। **हमारे करने, पाने व खोने के बाद जो होगा वह ईश्वर ही जानता है। लेकिन सब कुछ होने के बाद अन्ततः जो होगा, उसे मानव-देहधारी होने के कारण जानते हैं।** कुत्ता, सुअर, गधा, घोड़ा आदि पशु-पक्षी यह नहीं जानते, लेकिन हम मानव यह जानते हैं। समस्त पशुओं

से पृथक् अपनी इस चेतन व उत्कृष्टतम् बुद्धि से यह सोंचे, कि Outcome **of** life is **off** the life and it is **of** the life. वह भस्मी, देह **का** कुछ नहीं है और देह का निश्चित, परिलक्षित व दर्शित **होना** है। **यह होना हम सबके के लिए एक ही है।** भौतिक दृष्टि से कोई कितना भी बड़ा, महान, सर्वसम्पन्न व्यक्ति क्यों न हो, उसकी भस्मी एक दो किलो ही बनती है। राजा-भिखारी, मालिक-नौकर, गुरु-शिष्य, चोर-पुलिस, डॉक्टर-मरीज़, वक्ता-श्रोता कोई भी हो, राख सबकी एक जैसी ही होती है। वह सबका निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य है। **अपना यह भविष्य किसी ने नहीं देखा, क्योंकि वह जीवन के बाहर है, परन्तु वह है और जीवन का है।** फिर भी हम जीवन **में** विभिन्न भविष्यों के काल्पनिक दिवास्वप्नों में भटकते हुए करते, पाते, खोते रहते हैं, कि यह पा लूँ, तो यह हो जाएगा। इससे छुटकारा मिल जाए, तो यह हो जाएगा। यह **होना** काल्पनिक है और समस्त जीवन का जो होना है, (कुछ नहीं) वह भस्मी निश्चित, परिलक्षित व दर्शित है। **काश ! कि हम उस निश्चित को सुनिश्चित करके, परिलक्षित को लक्ष्य बना कर, दर्शित को दृश्यमान कर लें।** लेकिन दुर्भाग्यवश हम जीवन पर्यन्त अपनी समस्त सीमित शारीरिक व बौद्धिक और असीम आध्यात्मिक मानसिक शक्तियों का प्रयोग भी अपनी दैहिक व बौद्धिक शक्तियों की सीमाओं के विस्तार के लिए करते रहते हैं। अन्ततः सीमित रहते हुए ही आसक्तियों को लेकर मर जाते हैं। इस प्रकार हम अपनी शारीरिक, बौद्धिक ही नहीं अपितु आध्यात्मिक शक्तियों का भी दुरुपयोग करते हैं।

काश ! अपनी आध्यात्मिक शक्ति का हमने ज़रा भी सदुपयोग किया होता। **असीम आध्यात्मिक शक्ति का सदुपयोग मात्र कृपा-साध्य है।** सद्गुरु की कृपा व शक्ति से हम अपनी समस्त दैहिक सीमित सीमाओं को तोड़कर जीवन **में** ही जीवन **के** बाहर जाकर जीवन **में** लौटें। देह **का** भविष्य देह **के** बाहर है, लेकिन वह देह **का** है। वह देह का ऐसा **विरक्त क्षेत्र** है**,** जो सारे विश्व के मानवों का एक ही है। किसी की भस्मी का कोई नाम-रूप, देश-काल, सम्बन्ध, धर्म, कर्म, कर्तव्य, गुण-अवगुण नहीं होता। किसी भस्मी से

पूछा जाए, कि आप किसकी हैं? मान लो भस्मी बोल सकती हो, तो सारे मीडिया वाले माइक लेकर पहुँच जाएँगे। भस्मी यही कहेगी, कि "आज तक युगों-युगान्तरों में जितने मर चुके हैं, उन **सबका मैं वर्तमान हूँ और आज जो लोग ज़िन्दा हैं, जी रहे हैं, आप सब लोगों का मैं भविष्य हूँ तथा आज के बाद युगों-युगान्तरों में जो पैदा होंगे, उनका मैं भूतकाल हूँ।** मैं स्वयं में देश-काल, नाम-रूप, सम्बन्ध, धर्म-कर्म, कर्तव्य, लिंग और माया के तीनों गुणों से अतीत हूँ। **'मैं' हूँ, मेरा होना हमेशा से है और हमेशा रहेगा।"** ऐसी भस्मी मेरी देह **की** है। उसकी परम विशेषता यह है, कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो आज तक मर चुके हैं, उनका **वर्तमान** है, आज जो हैं, उनका **भविष्य** है तथा आज के बाद जो पैदा होंगे, उनका वह **भूत** है। यह बहुत बड़ा रहस्य है, जो हम **आसक्तियों** से पीछा छुड़ाने के लिए और **विरक्ति** को पाने के लिए अपनी भस्मी **में** देख सकते हैं।

भस्मीभूत भगवान शंकर **चेतन विरक्ति** हैं। मानव-देह धारण करके तथाकथित होश सम्भालते ही, होश के दौरान और होश गुम होने तक अपनी समस्त शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों को यह **छुटकारा** पाने के लिए झोंक दीजिए। जब नित्य कुछ समय मात्र 4 – 5 मिनट अपनी भस्मी के बारे में सोचेंगे, चिन्तन करेंगे, उसका दर्शन करेंगे और अति सद्गुरु-कृपा से उसकी अनुभूति (Realisation) करेंगे, तो जीवन **में** जितनी आसक्तियाँ हैं, उनमें विरक्ति का जामन लग जाएगा। **धीरे-धीरे समस्त आसक्तियाँ स्वतः विरक्ति बन जाएँगी।** जैसेकि दूध में थोड़ा सा जामन लगाने पर दही जमाने के लिए कुछ नहीं करना पड़ता। किसी कारणवश दही चाहे न भी जमे, लेकिन वह दूध नहीं रहता, उसमें खटास आ जाती है। नित्य 4 – 5 मिनट अपनी देह की भस्मी रूपी विरक्ति का जामन हमारी आसक्तियों को धीरे-धीरे विरक्ति में रूपान्तरित कर देता है। जो समस्त जीवन **का** Outcome है, वह भस्मी के रूप में कुछ नहीं है। उसका जामन जीवन **में** लगाने से **जीवन में करना, पाना, खोना और होना का महात्म्य धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है।** जीवन **का** भविष्य (भस्मी) निश्चित,

परिलक्षित व दर्शित है, यह कल्पना नहीं है, यह तो होगा ही। इसकी नित्य कल्पना नहीं अवधारणा करनी है, तो जीवन **में** समस्त **चाहतें,** हमारी **चहेतियाँ** बन जाएँगी। हमारी वह भस्मी जो देह की है, लेकिन जब बनती है, तो वह भस्मी जड़ होती है। देह के रहते हुए जीवन में सद्‌गुरु-कृपा से नित्य कुछ मिनट के लिए उसकी अवधारणा करने से वह **भस्मी जीवन्त** हो जाएगी। आप में शंकरत्व, शिवत्व जाग्रत हो जाएगा। आप बदल जाएँगे। आपका करना, पाना, खोना और होना सब ईश्वरीय हो जाएगा। पूछो, आप क्या कर रहे हैं, कि प्रभु जाने क्या कर रहा हूँ। **जब हम देह के इस कुछ नहीं (भस्मी) से प्रेम करते हैं, तो हमारी देह को हमसे इश्क हो जाता है। देह अपना सब कुछ, सारे रहस्य समस्त ज्ञान-ध्यान हमारे चरणों में रखना प्रारम्भ कर देती है। यह देह हमें छोड़ना नहीं चाहती।** देह जीवात्मा से कहती है—"हे जीवात्मा ! तुम मुझे छोड़ना मत। तुम प्रभु के अंश हो, मैं (देह) ज़मीन की वस्तु हूँ, मात्र मिट्‌टी हूँ। तुमने मुझ मिट्‌टी से प्यार किया है, मैं तुमसे बहुत प्यार करती हूँ, तुम मुझसे जो चाहे ले लो।" तब यह देह जो आज तक हमारी नहीं हुई, वह हमारी हो जाएगी। इसकी समस्त प्रतिभाएँ, सौन्दर्य, शक्तियाँ, विभूतियाँ व चाहतें हमारी चहेतियाँ बन जाएँगी। **यह ही कृष्ण का महारास है।**

जो होना है वह हो रहा है, जो हम कर रहे हैं, वह हमसे करवाया जा रहा है, जो करवाया जा रहा है, वह हो चुका है। हम सोचते हैं कि हम कर रहे हैं। इसलिए आधि-व्याधि-उपाधि, मल-विक्षेप, रोग-दोष, आवरण एवं विकारों से घिरे हुए हम जीवन जीते हैं और ऐसे ही मर जाते हैं। जीवन के रहते हुए जो जीवन **का** निश्चित, परिलक्षित एवं दर्शित भविष्य है, उसका दिग्दर्शन करना आवश्यक है। जीवन **में** कुछ और करने से **क्या होगा**, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन समस्त जीवन **का** यह **होना (भस्मी)** मानव होने के नाते हम सब जानते हैं। जीवन **में** Income और Outcome दोनों के लिए come शब्द है, यानि जो अन्दर आए और बाहर आए। समस्त जीवन से जो बाहर आएगा, उस भस्मी का हम सबको ज्ञान

है। लेकिन हम जानबूझ कर उससे आँखें मूँदे रहते हैं। जब उस भस्मी की शॉल हम अपनी देह को ओढ़ाएँगे, तो यह समस्त रेशमी, जरी, गोटेदार पशमीने भूल जाएगी। हमारी देह देवत्व, अमरत्व, शिवत्व को प्राप्त हो जाएगी। तभी वास्तविक मानव-जीवन प्रारम्भ होगा, हम इस आनन्दमय जीवन का भरपूर रसास्वादन करेंगे।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(18 मार्च, 2007)

आसक्ति-विरक्ति

(भाग 3)

सच्चिदानंद ईश्वर स्वयं में निराकार और अदृश्य है। समस्त कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का **स्रष्टा** है। उसका मानस-पुत्र जीवात्मा भी स्वयं में निराकार व अदृश्य है। वह ईश्वर द्वारा पंच-महाभूतों में निर्मित, पालित व संहारित साकार सृष्टि का **दृष्टा** है। पंच-महाभूतों की सृष्टि में ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना मानव-देह है। हम मानव देहधारी जीव युगों-युगान्तरों से देह के साथ नाम-रूप में भ्रमित होकर **कालचक्र में भ्रमण** कर रहे हैं। इस पुनः पुनः भ्रमण का अर्थ मात्र इतना ही है, कि हम किसी भी प्रकार से इस **भ्रम** से बाहर आ जाएँ और अपने विशुद्ध स्वरूप **ब्रह्म** को पा जाएँ। इसके लिए एक ही जीवात्मा देह पर देह लेता है, लेकिन दुर्भाग्यवश हर देह, इसके विशुद्ध स्वरूप को, परदा बन कर आवृत्त कर गई।

जीवात्मा एक ही है, जैसेकि परमात्मा एक है और जीव भी यदि है, तो एक ही है। **जीवत्व वस्तुतः जीवात्मा का देह भाव है, जो नाम-रूप की देह के साथ तद्रूपता में उभरता है। 'द्वैत-अद्वैत'** शीर्षक प्रवचनों में मैंने इसका सविस्तार वर्णन किया है, कि **जीवात्मा और परमात्मा का अद्वैत ही द्वैत सा है, जबकि जीवात्मा और देह का द्वैत ही है परन्तु नाम-रूप की अवचेतना में भ्रमवश जीवात्मा को देह से अद्वैत हो गया कि मैं देह हूँ।** जीव बना जीवात्मा जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में भटकता रहता है। देह अवधि से बँधी है। देह का जन्म हुआ, मृत्यु होगी। जिस देह को मिथ्या कहा गया है, उसका **'सद्'** यह है, कि यह नश्वर है और हर पल परिवर्तनशील

है। संसार को निस्सार कहा गया है। हमें इस निस्सार का सार ग्रहण करना है। युगों-युगान्तरों से एक ही जीवात्मा इस निस्सार संसार में लिपटा हुआ अधोगति व अर्थ से अनर्थ में पतित होता चला जा रहा है। तो यह संसार, निस्सार अथवा सारहीन कैसे हुआ? हर देह इसके जीवात्मा स्वरूप के लिए परदा बनती गई। यह आवरण पुष्ट, पुष्टतर व पुष्टतम होता रहा और अन्ततः **'मैं'** (जीवात्मा) पूर्णतः आच्छादित हो गया।

यदि देह मेरे लिए परदा बनी है, तो देह ही यह परदा हटाएगी। देह से **'मैं'** (जीवात्मा) आच्छादित हुआ और देह से ही मुझे अनाच्छादित होना है। यही देह का सार है, **'सद्'** है। **पारब्रह्म परमेश्वर की कृति भ्रम व मिथ्या नहीं हो सकती।** यह मेरे इस भ्रम को दूर करने के लिए ही है, कि मैं अमुक-अमुक नामधारी हूँ। **'मैं'** (जीवात्मा) अकाल पुरुष परमात्मा की इकलौती संतान, देह के साथ नाम-रूप में तद्रूप होकर काल में बँध गया और जन्मों-जन्मान्तरों के कालचक्र में भटकने पर विवश हो गया। जब **'मैं'** (जीवात्मा) मानव-देह धारण करके संसार में रहते हुए और उसका सार ग्रहण करते हुए, अपने स्वरूप का चिन्तन करता हूँ, तो यही संसार मेरे लिए कौतूहल व मेरे इष्ट की क्रीड़ा या लीला बन जाता है। इस तथाकथित निस्सार संसार की प्रत्येक क्रिया और हर परिदृश्य में मुझे अपने इष्ट, अपने सद्गुरु के विराट स्वरूप का दर्शन होता है।

हमारे जीवन में भौतिक प्राप्तियाँ दृश्यमान होती हैं, देखी, सुनी, चखी, सूँघी और स्पर्श की जा सकती हैं। उसके साथ मानसिक स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण है, जो दिखाई नहीं देती। जिस आनन्द के लिए हमने प्राप्तियाँ कीं, वह मानसिक स्थिति मात्र अनुभव की जा सकती है। **भौतिक दृश्यमान जगत में बहुत सी शक्तियाँ, धन-सम्पदा, पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने पर हमारी मानसिक असंतुष्टि बनती व बढ़ती रहती है, जो दिखाई नहीं देती। हमारी यह मानसिक असन्तुष्टि ही हमारे समस्त तनावों व विक्षेपों का कारण है।** करना, पाना, खोना दृश्यमान हैं, लेकिन जो होता है, वह मानसिक स्थिति अदृश्य है। **'आसक्ति-विरक्ति भाग-2' में इसका**

सविस्तार वर्णन किया गया है। अपनी सफलता व असफलता का आकलन हम अपनी मानसिक स्थिति से स्वयं कर सकते हैं।

हमारी देह में असंख्य ऐसी क्रियाएँ चलती रहती हैं, जो मानव-बुद्धि से परे हैं। इन अदृश्य क्रियाओं का कर्ता भी हमें दिखाई नहीं देता। इन अदृश्य क्रियाओं में कुछ क्रियाओं का होना, हम अनुभव कर सकते हैं, लेकिन असंख्य क्रियाओं का होना भी हमारी अनुभूति में नहीं आता। जब इनमें अनियमितता होती है, तो उसके प्रभाव को हम महसूस करते हैं और हमारी बाह्य क्रियाएँ भी तदनुसार प्रभावित होती हैं। किसी व्यक्ति के भीतर हर समय, ये अदृश्य क्रियाएँ जिस रूप में चलती हैं, उसके लिए बाह्य जगत में भी उसी रूप में क्रियाएँ चलती हैं। **जब हम गहन सुषुप्तावस्था में होते हैं, तो देह की भीतरी अदृश्य व सतत् चलती क्रियाओं का बाह्य प्रभाव देह की निष्क्रियता के रूप में होता है।** कोई भी व्यक्ति आराम से तभी सोता है, जब उसकी देह में होने वाली असंख्य अदृश्य क्रियाएँ उसे सुला देती हैं। हमारा सोना, जागना, हँसना, रोना, बोलना, सुनना, गाना, नाचना, खाना, पीना, चलना, फिरना, भ्रमित होना, छूना, सूँघना, देखना आदि समस्त बाह्य क्रियाएँ हमारी देह में सतत् हो रही असंख्य अदृश्य क्रियाओं का परिणाम होती हैं। **इन अदृश्य क्रियाओं को न हम जानते हैं और न ही जान सकते हैं। महादुर्भाग्यवश, अज्ञानतावश, जाने-अनजाने हम सोचते हैं, कि बाह्य क्रियाएँ मेरे कारण हो रही हैं।** उनका कर्ता **'मैं'** हूँ। आन्तरिक अदृश्य क्रियाएँ हमारे हाथ में नहीं हैं, तो कोई भी बाह्य क्रिया हमारे हाथ में कैसे हो सकती है? **इसलिए सभी आन्तरिक व बाह्य क्रियाओं की प्रेरक व संचालक ईश्वरीय शक्ति है।**

हमारा हाथ उठता है, क्योंकि कोई आन्तरिक अदृश्य प्रेरक शक्ति व क्रिया इसे उठाती है। हमारी ये अदृश्य आन्तरिक क्रियाएँ ही हमें **आसक्ति** या **विरक्ति** की ओर ले जाती हैं। दो जगत हैं—एक समाहित अदृश्य जगत (निराकार) तथा दूसरा प्रकट दृश्यमान जगत (साकार)। **समाहित जगत मानसिक एवं भावमय है।** इसी से **साकार व दृश्यमान** जगत प्रकट होता

है। प्रकट जगत भौतिक है, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसका अधिग्रहण किया जा सकता है। **जगत का प्रभाव हम पर तब पड़ता है, जब वह प्रकट होता है।** भूख व प्यास अदृश्य हैं और भोजन व पानी दृश्यमान हैं। अमीरी-गरीबी, दाता-भाव, लेने का भाव, क्रोध, प्रेम, घृणा आदि स्वयं में अदृश्य हैं, इनका प्रकाट्य विभिन्न लड़ाई-झगड़ों व पारस्परिक आलिंगन व स्नेह प्रदर्शन में देखा जा सकता है। जितना भावमय मानसिक जगत है, वह समाहित है। **देह-भाव व जीव-भाव भी स्वयं में समाहित हैं।** सुषुप्ति में हमारा देह भाव समाहित रहता है, जब हम उठते हैं, तो तथाकथित जागृति अथवा स्वप्न-सृष्टि में प्रकट होता है। हम किसी को क्रोधी तब कहते हैं, जब उसका क्रोध प्रकट होता है। कभी-कभी हम अपने क्रोध व प्रेम के मनोभावों को दबा लेते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है, कि क्रोध अथवा प्रेम होता ही नहीं। **जीवात्मा की मानसिकता में सौन्दर्य, शक्ति, ख्याति, ऐश्वर्य, ज्ञान एवं वैराग स्वरूपगत विभूतियों के रूप में समाहित रहते हैं, लेकिन जीव भाव में नाम-रूप की देह के साथ तद्रूपता में, ये ही क्रमशः काम, क्रोध, मोह, लोभ व अहंकार एवं आसक्ति के रूप में समाहित हो जाते हैं।**

सुख-दुःख समाहित जगत है, हम रुदन द्वारा पीड़ा की अभिव्यक्ति में कभी दुःख प्रकट करते हैं, कभी नहीं करते। हर्ष, उल्लास, हास्य-विनोद द्वारा सुख प्रकट करते हैं अथवा स्वयं भीतर के आनन्द में समाहित रहते हैं। इसी प्रकार अतृप्ति-तृप्ति, सन्तुष्टि-असन्तुष्टि अदृश्य व निराकार हैं। उनका प्रकाट्य साकार जगत में होता है। देह सहित जितना भी हमारा बाह्य जगत है, वह भावाभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में जितना भी प्रकाट्य है, वह समाहित जगत का है। **समस्त सृष्टि निर्मित, पालित व संहारित होने के बाद प्रकट होती है।** हमारे लिए देह के साथ एक जगत भी हमें स्वतः बना-बनाया मिलता है। **समाहित जगत सद् है, उसका प्रकाट्य भी सद् है। समाहित व अदृश्य मानसिक मनोभूमि से साकार जगत प्रकट होता है, यह प्रकाट्य हमें प्रभावित करता है।** किसी भी प्रकट जगत का हमारे मन पर हमारी अपनी मानसिकता के अनुसार प्रभाव पड़ता

है, जोकि हमारे अन्तर्मन में समाहित हो जाता है। वह समाहित जगत विभिन्न मानसिकताओं में पुनः साकार सृष्टि के रूप में प्रकट होता है। **'सद्'** का **'असद्'** ग्रहण करना अथवा **सद्** का **सद्** ग्रहण करना हमारी मानसिकता पर निर्भर करता है। **सद्** के अधिग्रहण के लिए हमारे मानस का आनन्दित और बुद्धि का चेतनायुक्त होना परम आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं है, तो जीव हर प्रकाट्य का **असद्** प्रभाव ग्रहण करेगा और वही उसके आन्तरिक मानस में समाहित हो जाएगा। वह समाहित जगत जब पुनः प्रकट होगा, तो वह असद् जीव-सृष्टि होगी।

समर्पित मन व बुद्धि से ही हम **सद्** ग्रहण कर पाएँगे। **जो मन समर्पित नहीं होगा, वह आनन्दमय हो ही नहीं सकता और जो बुद्धि समर्पित नहीं होगी, वह चेतनायुक्त नहीं हो सकती।** ऐसी स्थिति में प्रकट जगत तनाव का हेतु बन जाता है। प्रकट जगत में यदि परिवर्तन अपेक्षित है, तो अदृश्य और समाहित जगत के ज़रिए ही लाया जा सकता है। हम प्रकट जगत में भ्रमित हो जाते हैं। उदाहरणतः किसी ने बहुत बड़ा घर बना लिया अथवा उच्च पद प्राप्त कर लिया, तो हम सोचते हैं, कि वह बहुत प्रसन्न होगा। लेकिन उसके समाहित जगत में असन्तुष्टि और बढ़ जाती है। हम सांसारिक जीव किसी का मूल्यांकन भी करते हैं, तो उसके भाव या नीयत के आधार पर नहीं, बल्कि प्रकाट्य के आधार पर करते हैं। इसलिए **हमारा समस्त जगत, व्यवहार, लेखन, वक्तव्य, कलाएँ, इतिहास, प्रतिभाएँ आदि सब कुछ Fake जगत पर आधारित होता है।**

किसी ने कोई कृत्य किस स्थिति में किया, उस स्थिति को कोई नहीं देखता, मात्र कृत्य को देखते हैं। हर समाहित जगत प्रकट नहीं होता। **समाहित जगत का प्रकाट्य क्या होगा, हम इसलिए नहीं जानते, क्योंकि हम नहीं जानते, कि समाहित क्या है।** जब हम ईश्वर के ध्यान में समाधिस्थ होने का प्रयत्न करते हैं, तो उस समय हमें अपने समाहित जगत में व्याप्त विश्रंखलता का आभास हो जाएगा। **समाहित सद् है या असद्, यह हम तभी जान पाएंगे, जब हम सद्वृत्ति में बैठेंगे।** जो जगत हमारे

सम्मुख प्रकट हुआ है, उसका प्रभाव क्या-क्या हुआ, यह भी हम इष्ट-कृपा से जान जाएँगे। अतः समाहित जगत प्रकट हुआ, प्राकट्य का प्रभाव हुआ और वह प्रभाव फिर आन्तरिक जगत में समाहित हो गया। वह कभी प्रकट हुआ, कभी समाहित ही रहा, कालान्तर में प्रकट हुआ। ऐसे ही जगत का काल-चक्र चलता रहता है।

Condensation ईश्वरीय ध्यान है। जब हम स्वयं को ईश्वरीय ध्यान में समाहित करना चाहते हैं, तो हमारा निराकार समाहित जगत रूप धारण करके सम्मुख आ जाता है। **समाधि का लाभ यही है, कि ध्यान लगे या न लगे हमारा ध्यान क्यों नहीं लग रहा है, हमारे आन्तरिक जगत में क्या समाहित है, वह हमें पता चल जाता है।** ध्यान में समाहित जगत की हलचल का ज्ञान हो जाता है। कभी-कभी हमें भविष्य में होने वाले प्राकट्य का आभास भी हो जाता है। उस तनावित स्थिति में हमें कोई कार्य नहीं करना चाहिए। ऐसी स्थिति में यदि काम अति आवश्यक हो, तो प्रभु के आगे समर्पण करके रो पड़ें। त्राहि माम्! मैं असमर्थ हूँ, मैं आपमें ध्यान नहीं लगा पा रहा हूँ। यह जो संसार मेरे अन्दर बसा हुआ है, वह मुझे डुबो रहा है। **रुदन का होना ईश्वरीय प्रार्थनाओं की स्वीकृति का प्राकट्य है।** उसके बाद समस्त संचालन ईश्वर अपने हाथ में ले लेंगे। **जहाँ चार बूँद अश्रु गिरेंगे, वहीं प्रकट होने वाले जगत की विधा बदल जाएगी।**

हमारी देह में असंख्य क्रियाएँ रोम-रोम में चलती रहती हैं। असंख्य कोशिकाओं का निर्माण, पालन व संहार होता रहता है। परमात्मा किस प्रकार यह सब कर रहा है, यह हमारी मन-बुद्धि से परे का विषय है। मेरे लिए बाह्य जगत में और मेरी अपनी देह में सब कुछ स्वतः होता रहता है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का पालन, संचालन व संहार शिव-शक्ति-क्रीड़ा का बाह्य प्राकट्य है। देह का निर्माण उस समय होता है, जब मेरी अपनी बुद्धि थी ही नहीं। गर्भावस्था, शैशवावस्था, सुषुप्तावस्था, मूर्च्छावस्था, मृतकावस्था व भस्मावस्था—समस्त जीवन-काल की इन अवस्थाओं को छोड़ कर, जो **हमारी तथाकथित जाग्रत अवस्था है, उसमें हमारा तथाकथित हस्तक्षेप**

होता ही है। जिस प्रकार स्वप्न-सृष्टि में हमारा हस्तक्षेप बेबुनियाद होता है, क्योंकि उस सृष्टि का देश-काल, विभिन्न पात्र, भूमिका, घटना कुछ भी हमारे साथ में नहीं होता। यह ज्ञान हमें नींद से उठकर तथाकथित जाग्रत अवस्था में हो जाता है। हर स्वप्न सृष्टि में हमारा तथाकथित हस्तक्षेप ही होता है। क्योंकि स्वप्न देखते समय यह ज्ञात नहीं है, कि मैं सोया हुआ हूँ और यह स्वप्न देख रहा हूँ। यह भाग-दौड़ करने वाली देह स्वप्न की है।

जीवात्मा अपनी अवचेतना में देह के नाम-रूप के साथ तद्‌रूप होकर जीव-सृष्टि रचता है, सम्बन्ध बनाता है, बिगाड़ता है, कई कर्म-धर्म, कर्तव्य, ओढ़ लेता है। शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, प्रारब्ध, आधि-व्याधि-उपाधि, मल-विक्षेप व आवरण से भ्रमित हुआ भटकता है। तथाकथित जागृति में यह ज्ञान हो जाता है, कि मैं स्वप्न की वह देह नहीं था। यदि था भी, तो देह सहित वह समस्त सृष्टि प्रकट हुई थी। परन्तु यहाँ जीवात्मा यह भूल जाता है, कि अब भी **'मैं'** (जीवात्मा) स्वप्न की ही देह हूँ और मेरे सम्मुख यह सृष्टि भी मेरी एक नाम-रूप की देह की अवचेतना में प्रकट हुई है। **'मैं'** अभी भी सोया हुआ हूँ। अपनी सुषुप्ति के अज्ञान व नाम-रूप की देह के साथ तद्‌रूपता के भ्रम में विभिन्न जीव सृष्टियों में विचरता हुआ जीवात्मा सुखी-दुःखी होता रहता है।

स्वप्न की पहली शर्त यह थी, कि सोना आवश्यक था। सुषुप्ति वह अवस्था है, जिसमें जीवात्मा का जीव-भाव समाहित रहता है। वह अपने नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होता और तद्‌नुसार उसका कोई भी जगत नहीं होता। लेकिन इस अवस्था में वह ईश्वर सम्मुख भी नहीं होता। इसलिए **निद्रा को जड़ता या तमोगुणी अवस्था कहा है।** इसी जड़ता की अवस्था में प्रकट स्वप्न-सृष्टि में उसे नाम-रूप की देह की अवचेतना होती है और तदनुसार जगत की अवचेतना भी होती है। यह जीव-सृष्टि थी। **अतः एक जड़ता (निद्रा) से दूसरी जड़ता (जीव-सृष्टि या स्वप्न-सृष्टि) का प्रकाट्‌य हुआ।** नाम-रूप की अवचेतना, कि मैं अमुक-अमुक (देह का नाम-रूप) हूँ, जड़ता है। इस जड़ता पर आधारित जगत यानि इस **मैं** अमुक-अमुक हूँ, के आधार पर प्रकट मेरे जगत की समस्त विधाएँ एवं क्रियाएँ (देश-काल,

सम्बन्ध, धर्म-कर्म, कर्तव्य, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, रोग-दोष आदि) भी जड़ता में हैं। इस प्रकार एक जड़ता (निद्रा की स्थिति, जिसमें नाम-रूप की देह और जगत की अवचेतना तथा ईश्वरीय चेतना दोनों का अभाव है) से दूसरी जड़ता (स्वप्न में नाम-रूप की देह की अवचेतना में देह सहित प्रकट जगत की जीव-सृष्टि) का प्रकाट्य हुआ। तथाकथित जागृति में सब कुछ लीन हो गया। **यहाँ एक है, मानसिक स्थिति और दूसरी है, मानसिकता।** कृपया एकाग्र करें।

पूरे जीवन को हम एक दिन में मान लें। सुबह उठे, हमने स्वयं को अपनी देह के नाम-रूप में पहचाना, इसे बचपन मान लीजिए। फिर हम अपने कर्मों में लग गए, फिर दोपहर तक युवावस्था आ गई। संध्या प्रौढ़ावस्था फिर वृद्धावस्था, अति वृद्धावस्था और हम सुषुप्ति (मृत्यु) में चले गए। सारा दिन हम कुछ न कुछ करते रहते हैं, कुछ पाते हैं, कुछ खोते हैं, फिर कुछ सुख या दुःख होता है, रात्रि में थक कर हम सो जाते हैं। **सब कुछ करने-कराने, पाने-खोने के बाद जो कुछ होता है, उसका समवेत प्रभाव, सोने से पहले हमें प्रभावित करता है। सुषुप्ति के समय सारे दिन में हुए-हुए का जो मुख्य भाव है, वही सारे दिन का सार या Outcome होता है।** निद्रा के समय कभी-कभी कोई वस्तु, प्राणी या विचार हमें तनावित करता है। कभी भूतकाल में घटी किसी घटना का शोक या भविष्य की कोई चिन्ता होती है, कि आज ऐसा हो गया, आगे क्या होगा, आदि-आदि। ये भाव हमारी निद्रा को प्रभावित करते हुए उसकी गुणात्मकता को निर्धारित करते हैं।

प्राकृतिक निद्रा में हम अपनी देह तथा जगत की अवचेतना की जीव-सृष्टि से परे होते हैं, यह तो हमारी मानसिक स्थिति है। इस मानसिक स्थिति में हमारी नाम-रूप की समस्त सृष्टि समाप्त हो जाती है। लेकिन मानसिकताएँ अनेक होती हैं। कुछ मानसिकताएँ हमारी निद्रा में बाधा (विक्षेप) नहीं डालतीं, लेकिन हमारी निद्रा को प्रभावित अवश्य करती हैं। दिन भर जो **करना, पाना, खोना** या **होना** हुआ है, उस हुए-हुए का सार

रूप में **हौव्वा सा** बना हुआ हमारी निद्रा को प्रभावित करता है। फिर भी हम किसी भी प्रकार सो जाते हैं। **लेकिन हर रोज़ सब का सोना एक समान नहीं होता।** वह प्रभाव निद्रा को यदि अत्यधिक प्रभावित करता है, तो लोग शराब, नशे अथवा नींद की गोलियाँ आदि खाते हैं। मनोचिकित्सक उनकी मानसिकताओं के अनुसार दवाई दे देते हैं।

स्वप्न इसी निद्रा से प्रकट होता है। निद्रा को प्रभावित करने वाले ख़याल और विचार स्वप्न में रूप धारण करते हैं। दिन भर करने, पाने, खोने से जो हुआ, वह अरूप है, अदृश्य है। **इन सबका वर्चस्व एक हौव्वे के रूप में मानसिकता में अंकित हो जाता है** और स्वप्न में नाम-रूप की सृष्टि बनकर प्रकट हो जाता है। यही जगत है। **जीवात्मा, जीव बन कर उसी निद्रा से स्वप्न में देह धारण करके अपनी सृष्टि में विचरता है।** मूलतः कहीं आता-जाता नहीं, यह निद्रा से तथाकथित जागकर उसे पता चल जाता है। स्वप्न से उठकर तथाकथित जाग्रतावस्था में हम उस स्वप्न पर विचार करें, उसकी विभिन्न विधाओं को देखें, तो अनुभव करेंगे, कि स्वप्न के दौरान उस सृष्टि में जो कुछ भी मेरे द्वारा किया गया, कुछ **पाया गया** अथवा कुछ **खोया गया** और जो कुछ भी **हुआ,** अन्ततः उसका **कुछ नहीं** रहा।

स्वप्नावस्था के दौरान मेरे द्वारा हुई अथवा की गईं समस्त क्रियाएँ, किसी के द्वारा करवाई गईं। लेकिन स्वप्न के दौरान मैं यही समझता और मानता रहा, कि मैं कर रहा हूँ। **उठकर मैं जान गया, कि मैं तो सोया हुआ था।** उस स्वप्न में मुझे वह सब किया हुआ इसलिए लगा, क्योंकि मैं देह के नाम-रूप की अवचेतना में था। बल्कि उठकर भी मैं अधिकतर तथाकथित जागृति में देह के नाम-रूप के साथ तद्‌रूपता में स्वप्न का वर्णन इसी प्रकार करता हूँ, कि मैंने स्वप्न देखा। उसमें मैंने यह किया, उसे यह दिया, मुझे किसी ने धोखा दिया और मेरा सब कुछ लूट कर ले गया। अब उस घटना का कोई दुष्प्रभाव तो वास्तविक जीवन में नहीं हो जाएगा। अर्थात् तथाकथित जाग कर भी उस स्वप्न-सृष्टि की घटनाओं, सुखों, दुःखों, करने,

पाने, खोने और सब कुछ होने के बाद **उसका समवेत प्रभाव, मेरे मानस पर एक प्रकार की मानसिकता के रूप में चिपका रहता है।** जबकि अब मैं भली-भाँति जानता हूँ, कि न तो वह देह थी और न ही वह जगत था। निद्रा की स्थिति में वह आभास मात्र था। लेकिन उस सृष्टि में देह भी थी और जगत भी था। क्योंकि मैं नाम-रूप की अवचेतना में स्वयं को पहचान रहा था, इसीलिए मुझे लगा, कि मैंने किया और मेरे साथ वह सब हुआ। **वह जो कुछ हुआ, यद्यपि वह 'कुछ नहीं' था, लेकिन वह एक मानसिकता छोड़ गया।**

स्वप्न-सृष्टि के भी तथाकथित जागृति की सृष्टि के समान चार आयाम होते हैं—**करना, पाना, खोना और होना**। स्वप्न-सृष्टि में भी हमने कुछ किया, कुछ पाया अथवा खोया और जो कुछ भी हुआ, यद्यपि अब तथाकथित जाग्रत होकर हम जान जाते हैं, कि हमने न कुछ किया न पाया, न खोया और न कुछ हुआ, लेकिन फिर भी उस सब कुछ होने का जो हुआ, वह मेरी मानसिकता थी, जिससे मैं प्रभावित रहता हूँ और उसे लेकर **'मैं'** उठता हूँ। फिर दूसरा स्वप्न प्रारम्भ हो जाता है। जिस प्रकार कि स्वप्न में मुझे ज्ञान नहीं था, कि यह स्वप्न है और मैं सोया हुआ हूँ, उसी प्रकार निद्रा से उठने के बाद भी मुझे ज्ञान नहीं होता, कि यह स्वप्न-सृष्टि है। यद्यपि मैं दूसरा स्वप्न ही देख रहा हूँ, लेकिन मुझे ज्ञान नहीं है, कि मैं सपना देख रहा हूँ, इसीलिए समझ रहा हूँ, कि मैं कर रहा हूँ।

आप सब परम जिज्ञासु हैं, कृपया अति श्रद्धा एवं एकाग्रता से ब्रह्म विद्या के इस अति दुर्लभ और मात्र श्रुतिगम्य विषय को हृदयंगम करें। निद्रा से तथाकथित जाग्रत होकर **'मैं'** स्वप्न का वर्णन करते हुए यही बताता हूँ, कि मैंने देखा, मैं घनघोर जंगल में साथियों के साथ **भटक गया,** शेर की दहाड़ सुन कर घबराहट में पेड़ से **टकरा गया** और मेरे माथे से खून **बहने लगा**। मेरे साथी भाग गए। मैं अकेला **भटकने लगा,** आदि-आदि। जो कुछ स्वप्न में **मैंने देखा,** उसका वर्णन मैं इसी प्रकार करता हूँ, कि मैंने यह **किया**, उसने यह **किया**, मैंने यह **पाया,** यह **खोया** और मेरे साथ यह **हुआ**।

सद्गुरु पूछता है, कि बेटा ! तुमने **स्वप्न देखा,** लेकिन तुम तो कह रहे हो, कि **मैं भाग रहा था** और अब तुम अच्छी तरह यह जानते हो, कि तुम **सो रहे** थे। तुम यह बताओ, कि तुम **सो रहे** थे, **देख** रहे थे अथवा उस सृष्टि में **भाग-दौड़** कर रहे थे। **सुना वह रहे हो जो तुमने देखा, लेकिन वर्णन इस प्रकार कर रहे हो, जो तुमने किया, पाया, खोया या हुआ। यद्यपि तुम जानते हो, कि तुम सो रहे थे। तुम दृष्टा थे अथवा कर्ता थे अथवा सोए हुए थे। इन तीनों में से तुम क्या थे? सद्शिष्य** उत्तर देता है, कि महाराज ! मैंने देखा, कि मैं जंगल में भटक रहा था। मैंने देखा, कि मैं शेर की दहाड़ सुन रहा था, फिर मैंने देखा, कि पेड़ से टकराने से मेरा माथा फूट गया, खून बहने लगा, मेरे साथी मुझे अकेला छोड़कर चले गए—यह सब मैंने देखा और **मैं सो रहा था।**

यहाँ देखने वाला, जंगल में भटकने वाला और सोने वाला, तीन विधाएँ हैं। जो देखने वाला है, वही सोया हुआ है और वह देह सहित समस्त जगत का दृष्टा है। जो कर रहा है, वह एक नाम-रूप की देह में जीव है और बाकी उसका उस समय का जगत (जीव-सृष्टि) है। देखने वाला एक है और सोने वाला भी एक ही है। एक ही व्यक्ति सोया, एक ही ने देखा और निद्रा से उठकर एक ही व्यक्ति सुना रहा है। **स्वप्न में बहुत कुछ हुआ, वह एक से अनेक बना, अनेकों में वह एक ही था। यद्यपि स्वप्न में भाग-दौड़ की जा रही थी, लेकिन अब ज्ञान है, कि वह सब हुआ था।** जो कर रहा था, उसके द्वारा भी सब करवाया जा रहा था। अब देह सहित वह समस्त जगत समाप्त हो गया। मैं सोया हुआ था, मैने स्वप्न में इतना कुछ देखा और मैंने यह किया, पाया, खोया और यह हुआ। जो स्वप्न का वर्णन कर रहा है, वह पूर्णतया आश्वस्त है, कि वह सोया हुआ था, लेकिन फिर भी कहता है, कि मैंने सपना देखा। **वह एक सोया था, मध्य में स्वप्न में जो कुछ उस एक ने देखा, उसमें वह एक ही अनेक बना और अब उठकर एक ही सुना रहा है।**

सद्गुरु उसे आश्वस्त करता है, जो कुछ तुमने देखा, उसका प्राकट्य

कर्ता (निर्माण) पालनकर्ता और संहारकर्ता तुम नहीं हो। तुम जब सोए हुए थे, तो तुम अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में नहीं थे। तब न कुछ प्रकाट्य हुआ था, न संचालित हुआ था और न ही संहार हुआ था। सुषुप्ति में तुम स्वयं को देह के नाम-रूप के साथ नहीं पहचान रहे थे, इसलिए न तुम्हारी देह थी, न कोई जगत था। **जब तुम दृष्टा थे, तब भी तुम नाम-रूप की समस्त सृष्टि से परे थे, इसलिए अपनी देह सहित दृश्य को देख रहे थे।** एक दृष्टा विस्तृत दृश्य के समस्त वैविध्य और विधाओं को देखता है। यह दृष्टा हर दृश्य में नाम-रूप की देह और जगत से पृथक् है। अपने जीवन के अतीत की कोई घटना सुनाते समय वर्णन हम इस प्रकार करते हैं, कि मैंने किया, यह पाया, यह खोया और फिर मेरे साथ यह हुआ। **हम यह नहीं कहते, कि मैंने देखा, कि मैंने यह किया।** यद्यपि उन अतीत की घटनाओं का वर्णन दृष्टा करता है और जिन भी घटनाओं का वर्णन करता है, उनमें उसकी एक नाम-रूप की पहचान वाली देह का होना आवश्यक है।

यह दृष्टा (जीवात्मा) हमेशा जाग्रत है। तभी तो देह की सुषुप्तावस्था में भी नाम-रूप की देह व जगत का स्वप्न देखता है। उस समय स्वप्न को स्वप्न करके नहीं देखता, क्योंकि देह के नाम-रूप की अवचेतना इसकी चेतनता पर हावी होकर इसे स्वप्न-सृष्टि में करने वाला, खोने वाला, कुछ पाने वाला और दुःखी-सुखी होने वाला जीव बना देती है। **यदि यह जीव तथाकथित जाग्रतावस्था में अपनी निद्रा को देख ले, तो इसे अपने जीवात्मा स्वरूप की अनुभूति एवं इस जगत की स्वप्नवत् प्रतीति हो जाएगी।** जिस **'मैं'** (जीवात्मा) ने स्वप्न-सृष्टि देखी उसे ज्ञान नहीं था, कि वह स्वप्न देख रहा है। स्वप्न-सृष्टि में जो **कर** रहा है, उससे करवाया जा रहा है, जो **पा** या **खो** रहा है और उससे जो सुखी-दुःखी **हो** रहा है, उसका भ्रम है, क्योंकि उसने अपनी निद्रा नहीं देखी। **यदि उसने सुषुप्ति देख ली होती, तो उसे ज्ञान हो जाता, कि यह मेरी Nothingness से प्रकट हुआ स्वप्न का दृश्य है, जिसमें मैं एक नाम-रूप की अवचेतना में स्वयं को पहचान रहा हूँ और यह जगत उसी देह की अवचेतना में प्रकट है।** स्वप्न

के टूटते ही यह सब मेरी उस Nothingness में ही समा जाएगा। साथ ही मुझे पूर्ण आभास हो जाता है कि यह स्वप्न है, इसका कुछ भी मेरे हाथ में नहीं है। **'मैं'** (जीवात्मा) प्रत्येक साकार सृष्टि का एक दृष्टा हूँ। **वह सृष्टि जो परमात्मा द्वारा निर्मित, पालित व संहारित है, इसमें मैं स्वयं को ही नाम-रूप की देह में एक से अनेक होते हुए देखता हूँ।** उन अनेकों में **'मैं'** (जीवात्मा) ही एक होता हूँ। मैं आश्वस्त हो जाऊँगा, कि यदि यह सोया हुआ **'मैं'** एक है, तो स्वप्न का दृष्टा **'मैं'** भी एक ही है। स्वप्न में मुझे दी गई नाम-रूप की देह और समस्त जगत का वैविध्य और यह द्वैत **सा** मात्र क्रीड़ा में है। स्वप्न के टूटते ही एक **'मैं'** रह जाऊँगा।

स्वप्न का यह एक दृष्टा (जीवात्मा) उस नाम-रूप की देह को भी देखता है, जिसके साथ जीवात्मा की तद्रूपता है। तथाकथित जागकर भी वह उसी नाम-रूप में स्वयं को पहचान कर जगत को स्वयं से भिन्न देखता है। स्वप्न का **'मैं'** (जीवात्मा) दृष्टा हूँ, सुषुप्ति का मुझे ज्ञान नहीं है और समस्त स्वप्न की सक्रियता भाग-दौड़ करना, पाना-खोना और होना हुआ, वह मेरी देह के एक नाम-रूप की अवचेतना में हुआ। **वह समस्त सृष्टि न थी, न है और न होगी। न कुछ किया, न पाया, न खोया, न कुछ हुआ और तथाकथित जाग्रतावस्था में उसका जो Outcome हुआ, वह मेरी निराकार मानसिकता ही शेष है।** इस तथाकथित जाग्रतावस्था में मुझे जानना है, कि यह सब **'कुछ नहीं'** है। यह तभी होगा यदि मैं अपनी निद्रा की अभावमयी स्थिति को देख लूँ। निद्रा में **'मैं'** उस नाम-रूप की देह की अवचेतना में नहीं था और तदनुसार मेरा कोई जगत भी नहीं था। अब मैं नाम-रूप की देह का **'कुछ नहीं'** यानि भस्मी देख लूँ, तो मुझे ज्ञान हो जाएगा, कि यह कुछ नहीं है, सपना है। लेकिन दुर्भाग्यवश, अज्ञानवश **'मैं'** (जीवात्मा) जो देह सहित समस्त दृश्य के विविध नाम-रूपों एवं विधाओं का दृष्टा है, वह स्वप्न का सब कुछ देखते हुए भी एक नाम-रूप की देह के साथ बँध गया। **उसने सब कुछ देखा, लेकिन उस देह का 'कुछ नहीं' (भस्मी) नहीं देखा। यदि कुछ नहीं (भस्मी) देख लेता तो जान जाता, कि यह सब**

कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है। देह के साथ नाम-रूप की तद्‌रूपता में उसने जो देखा, अधूरा देखा। वह देख रहा है, लेकिन दिखाने वाला परम पिता परमेश्वर है। उस एक देह के निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य **'भस्मी'** को यदि जीव देख ले, तो इसके लिए समस्त सृष्टि के **'सब कुछ'** का रहस्य अनावृत्त हो जाएगा।

'मैं' (जीवात्मा) देह और जगत में इसलिए **आसक्त** हुआ, कि मैं इस रहस्य को नहीं जान पाया। जीते जी जीवन-काल में देह की **'भस्मी'** की अवधारणा से इसमें **विरक्ति** का बीजारोपण हो जाता है। **'मैं'** (जीवात्मा) में तो कोई जगत बना ही नहीं। इस तथाकथित जाग्रतावस्था में भी कभी-कभी हम अपने किसी ख़याल में गुम हो जाते हैं–ख़याल की देह और जगत हमारे मानस में ही होता है। लेकिन ख़याल का वह जगत, देशकाल आदि अलग ही होता है। कई बार कोई ख़याल आने पर हम बैठे-बैठे तनावित हो जाते हैं, कभी हँस पड़ते हैं। **यह ख़याल की देह और जगत हमारे भीतर हमारी अपनी सृष्टि में होता है। इस समस्त ख़याल की सृष्टि को देखने वाली हमारी ख़याल की देह होती है। हम मन ही मन अनेक रूपों में विचरते हैं, सबके संवाद खुद ही बोलते हैं।** इस समस्त सृष्टि का आधार हमारी अपनी एक ख़याल की देह होती है। दिन भर बैठे-बैठे कई ख़याल आते हैं और कुछ ख़याल हमें बहुत प्रभावित करते हैं। जीवात्मा की अपनी देह के नाम-रूप में इतनी तद्‌रूपता है, कि ख़याल की देह के मानस पर जो भी प्रभाव होगा, वह बैठे-बैठे हम पर भी हो जाता है। यदि हमारी ख़याल की देह को मज़ा आ रहा होगा, तो हमें भी मज़ा आएगा। ख़याल में किसी को दुःखी करके हमारी ख़याल की देह को अच्छा लगा, तो हमें भी उसका सुख भासने लगता है। यद्यपि ख़याल में जिसे हम सता रहे हैं, वह भी हमारा ही एक रूप होता है।

ख़याल की सृष्टि के सुख-दुःख के प्रभावों से प्रभावित ख़याल की देह और जगत होता है, लेकिन हमें सुखी-दुःखी करता है। हमें इस ख़याल के जगत में विचरते कोई टोक दे, तो हमारी ख़याल की देह सहित वह समस्त

ख़याल की सृष्टि समाप्त हो जाती है। **निद्रा के समय हमारे यही ख़याल स्वरूप धारण करके स्वप्न-सृष्टि के रूप में प्रकट हो जाते हैं।** कुछ सपने याद रहते हैं, कुछ याद नहीं रहते। निद्रा की जड़ता में हम अपनी नाम-रूप की देह सहित जगत की अवचेतना में नहीं होते। इस मानसिक स्थिति में मानसिकताएँ अनेक प्रकार की रहती हैं। **यह मानसिकताएँ सोते समय हमारे विभिन्न ख़यालों एवं विचारों की प्राथमिकताओं पर निर्भर करती हैं। दुर्गति करने वाले ख़याल और विचार हमें जीते जी तनावित रखते हैं।** कई ख़याल आते ही हम आनन्दित होते हैं, कई ख़याल हमें तनावित करते हैं।

जब स्वप्न आ रहा है, तो प्रभु-कृपा से उसे यह ख़याल आ जाए, कि यह स्वप्न है, तो वह अपनी वास्तविक देह, जहाँ से समस्त स्वप्न प्रकट हुआ है, उसे देखना चाहता है। वह देह तभी देख पाएगा, जब स्वप्न की देह नहीं रहेगी। **एक ही समय में मेरी दो देह नहीं हो सकतीं।** जहाँ से स्वप्न-सृष्टि प्रकट हुई है, वह देह निद्रा से उठकर कहेगी, कि मुझे सपना आया। **स्वप्न के चलते हम अपनी सुषुप्त देह को नहीं देख सकते। स्वप्न वाली हमारी देह ख़याल की है और उसी पर आधारित समस्त स्वप्न-सृष्टि है।** हमने वास्तविक देह नहीं देखी **जो एक से अनेक** बनी, स्वप्न की या ख़याल की यह देह अनेकों में **एक** है। उस एक सुषुप्त देह से अनेक बने हैं, जिसमें वह **भी** (अनेकों में एक) है, लेकिन उन अनेकों का आधार वह एक देह **ही** है। क्योंकि उस एक देह के उस सृष्टि से निकलते ही सारी स्वप्न-सृष्टि समाप्त हो जाती है। जो एक से अनेक (सुषुप्त देह)त्रबना है, वह स्वयं में न **ही** है, न **भी** है, क्योंकि वह कहीं आया-गया नहीं। निद्रा से तथाकथित जागृति में आते ही इसका ज्ञान उसे हो जाता है।

उस स्वप्न के चलते उसे यह ख़याल आ जाए, कि यह स्वप्न है, मैं तो सोया हुआ हूँ। **जो सुषुप्त है और एक से अनेक बना है, उसका नाम-रूप स्वप्न-सृष्टि के विभिन्न नाम-रूपों, पदार्थों, प्राणियों में से कोई भी हो सकता है, क्योंकि स्वयं में वह इनमें से कोई भी नहीं है।** मैं पुनः वर्णन

करूँगा, जो सुषुप्त है, वह एक ही है और सपने में वह ही एक से अनेक बना है। इन अनेकों में एक नाम-रूप उसका **भी** है। स्वप्न-सृष्टि का पृथक् देश-काल, रंग-रूप आदि है और सुषुप्त देह बिल्कुल पृथक् देश-काल में है। तो उस सुषुप्त देह के नाम-रूप की कल्पना ही की जा सकती है। **जो मुझ एक (स्वप्न की नाम-रूप की देह) सहित समस्त जगत को देख रहा है, मैं उसे स्वप्न के चलते नहीं देख सकता।** स्वप्न टूटने पर मेरी स्वप्न की नाम-रूप की देह जो अनेकों में एक थी, समस्त सृष्टि के साथ समाप्त हो गई, तो मुझे स्वप्न की समस्त घटना की स्मृति कैसे है? स्वप्न वाली देह ने सपना देखा, जब मैं स्वप्न की देह नहीं हूँ, तो मैं स्वप्न का वर्णन कैसे कर रहा हूँ? इसका अर्थ है, तथाकथित जागृति में **'मैं'** (जीवात्मा) दूसरे स्वप्न में पहले स्वप्न का वर्णन कर रहा हूँ। इस दूसरे स्वप्न में मुझे ज्ञान हो गया, कि मैं पहले स्वप्न में एक से अनेक बना था और अनेकों में **'मैं'** देह रूप में कोई नहीं था। **'मैं'** दृष्टा हूँ, यह **दृष्टा** सबका एक ही है, **यहाँ मुझे भ्रम यह हो गया, कि मैं अमुक नाम-रूप का व्यक्ति हूँ।**

सपने के गिरधारी लाल को चोट आई। वह बारिश में भीगा, पेड़ से टकराया, शेर और साँप से मुठभेड़ हुई, उसके साथी ज़ख्मी हो गए। वह भयभीत हुआ काँप रहा है। जो जागकर स्वप्न सुना रहा है, उस गिरधारी लाल को न चोट है, न उसकी शेर व साँप से मुठभेड़ हुई, न वह जंगल में बारिश में भीगा। वह जानता है, कि स्वप्न वाली देह वह नहीं है। तो उस घटना को याद करके अब भी भयभीत सा क्यों है? उसे स्वप्न की स्मृति कैसे है? जो व्यक्ति साथ में थे, उन्हें इस घटना की स्मृति हो ही नहीं सकती, क्योंकि वे व्यक्ति वो नहीं हैं, जो स्वप्न में गिरधारी लाल के साथ थे। **स्मृति केवल गिरधारी लाल को है और गिरधारी लाल अब वो स्वप्न वाला व्यक्ति नहीं है।** जीव यदि है, तो वह भी एक ही है—**एक ही नाम-रूप में एक से अनेक बनते हुए स्वयं को विभिन्न स्थितियों में विभिन्न मानसिकताओं में विभिन्न सृष्टियों में देखता है**।

स्वप्न वाला व्यक्ति सोए हुए व्यक्ति को जानता भी नहीं है, लेकिन

निद्रा से जागकर हम कहते हैं, कि वह मेरा स्वप्न था। यदि सपने वाला गिरधारी, सुषुप्त गिरधारी को जानता होता, तो स्वप्न में भयभीत क्यों होता, शेर की सवारी करता और साँप को शिव की तरह गले का हार बनाता। निद्रा से जागकर गिरधारी लाल व्यर्थ ही स्वप्न वाली देह गिरधारी लाल के साथ तद्‌रूप हुआ भयभीत सा है। स्वप्न में जिससे सब कुछ प्रकट हो रहा है, वह **'मैं'** कौन हूँ? वह एक मेरा ऐसा स्वरूप है, जिससे विभिन्न नाम-रूपों में जगत प्रकट हो रहा है, लेकिन वह सबसे निर्लिप्त और आनन्दमय स्थिति में है। वहाँ **'मैं'** (जीवात्मा स्वरूप) एक ही हूँ। इस समस्त नाम-रूपात्मक सृष्टि में एक नाम-रूप की देह के रूप में **'मैं'** भी (नाम-रूप की एक देह अनेकों में एक) हूँ और उसका कर्णधार मैं ही हूँ।

असंख्य नाम-रूपों की सृष्टि मेरे (जीवात्मा के) एक नाम-रूप से प्रकट हुई है, वह है मेरा इष्ट। किसी भी नाम-रूप में साकार परमात्मा। वह मेरा विशुद्ध स्वरूप है, जहाँ न मेरी एक नाम-रूप की देह है और न जगत है। उसमें साकार नाम-रूपात्मक सृष्टि का सुख-दुःख, लाभ-हानि, जन्म-मरण, यश-अपयश, उन्नति-अवनति, पाप-पुण्य कुछ नहीं है। **यह साकार सृष्टि उस एक का अनेकों नाम-रूपों में प्राकट्य है और अनेकों में वह एक ही है। All in one and one in All. वह तटस्थ है, निर्लिप्त है, आनन्द में सृष्टि प्रकट कर रहा है और सृष्टि लीन हो रही है।** यहाँ पर मुझे (जीवात्मा के) दो स्वरूपों का आभास होता है—एक नाम-रूप में ऐसा स्वरूप, जिस एक से अनेक प्रकट हुए और दूसरा उसका कारण स्वरूप जो सब कुछ प्रकट कर रहा है। जीवात्मा स्वरूप एक ही है, जिससे अनेक बने हैं, लेकिन इस अनेकता का कारण परमात्मा है, जिसे **'मैं'** किसी भी नाम-रूप में मान सकता हूँ। **वह कारण स्वयं में निराकार है, क्योंकि उससे अनेक आकार बने हैं।** वह स्वयं में भावातीत, धर्मातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, गुणातीत, लिंगातीत, देशातीत व कालातीत ही होगा। वह साकार अवस्था (जीवात्मा को दी एक नाम-रूप की देह) और व्यवस्था (उस समय उस पर आधारित जगत) दोनों से परे अवस्थातीत और

व्यवस्थातीत है। वह है—मेरा विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप जो मात्र दृष्टा है, इस समस्त सृष्टि का स्रष्टा परमात्मा है।

जीवात्मा का अपना एक विशुद्ध स्वरूप है। जो देह और जगत की अवचेतना से परे अनादि, अनन्त, अजर, अमर, देश-काल, जन्म-मृत्यु से परे अविरल व अकाट्य है। **जीवात्मा का वह स्वरूप कितना भी आवृत व आच्छादित हो जाए, लुप्त नहीं होता। वह कभी भी लुप्त हो ही नहीं सकता। यह स्वरूप निद्रा में देह के साथ जड़ तद्रूपता में सुषुप्त है। इसी से देह के साथ अवचेतन तद्रूपता में स्वप्न-सृष्टि प्रकट होती है,** जिसमें वह देह के नाम-रूप की अवचेतना में उस देह सहित समस्त जगत की जीव-सृष्टि में भटकता है। **तथाकथित जागृति में इस सबका ज्ञान होने पर यहाँ वह मान ले, कि अब भी मेरा सुषुप्त स्वरूप एक ही है। जिससे मेरी देह सहित यह अनेक नाम-रूप प्रकट हुए हैं।** जब उस सुषुप्त स्वरूप को किसी भी नाम-रूप में मान कर उसका ध्यान करेंगे, नाम-जाप, अर्चन-पूजन, भजन आदि करेंगे, तो हमारी देह जो नाम-जाप कर रही है, मेरे उस स्वरूप में एकाग्र होगी, जो नाम-रूप की समस्त सृष्टि से परे है। जिस सद्गुरु या इष्ट को हम ध्याते हैं, उसकी कृपा से पहले जीव को अपने निराकार जीवात्मा स्वरूप की अनुभूति होती है। **सद्गुरु दर्शन के लिए पहले हमें अपनी उस निराकार स्थिति में प्रविष्टि पानी होगी, जिसमें हम देह सहित नाम-रूप की सृष्टि से परे हों।** यही जीवात्मा स्वरूप की जागृति है। जितनी विकृतियाँ हैं, वे **'कर-कर'** के कर्ता भाव से प्रारम्भ होती हैं—मैं ऐसा कर रहा हूँ, मैं ऐसा कर चुका हूँ। यह विकृति **(वि 'क र' ति)** बिना **विरक्ति (वि 'र क' ति)** के दूर नहीं होती।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(15 अप्रैल, 2007)

आसक्ति-विरक्ति

(भाग 4)

सच्चिदानंद परमात्मा निराकार एवं साकार दोनों स्वरूपों में सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति एवं वैराग—इन छः विभूतियों से विभूषित है। वह ठोस-घन-शिला है। अपने संकल्प मात्र से कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन व संहार करता है।

वह शाश्वत, अजर, अमर, लिंगातीत, मायातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, कर्तव्यातीत एवं त्रिगुणातीत है। उसने साकार सृष्टि में जितनी भी मायिक रचना की है, उसमें सर्वोत्कृष्ट एवं विलक्षणतम रचना मानव-देह है। ईश्वर ने अपने मानस-पुत्र (जीवात्मा) को समस्त प्राणी जगत—जलचर, थलचर व नभचर में सबसे पृथक् और अत्यधिक विलक्षण मानव-देह दी है। यह मानव-देह पाकर होश सम्भालते ही जीवात्मा ने स्वयं को मानव-देह में नाम-रूप से पहचाना एवं जीव-सृष्टि में विचरने लगा।

ब्रह्म जब आच्छादित होता है तो **'भ्रम'** बन जाता है। जीवात्मा का विशुद्ध स्वरूप है—**'ब्रह्म'** 'अहं ब्रह्मऽस्मि'। अहं (मैं) के साथ जब **'कार'** जुड़ गया, जब अहं यानि **'मैं'** (जीवात्मा) को अहंकार हो गया कि मैं अमुक-अमुक हूँ, तो इसका ब्रह्म-स्वरूप आच्छादित हो गया। जैसे लोहे को जंग लग जाता है, तो लोहा बेकार हो जाता है, इसी प्रकार **'अहंकार'** ने जीवात्मा के ब्रह्मस्वरूप को आच्छादित करके इसे **'भ्रमित'** कर दिया। इसकी सुकृतियों को विकृतियों में रूपान्तरित कर दिया। इसका सौन्दर्य—

काम, शक्ति–**क्रोध,** ऐश्वर्य–**लोभ,** ख्याति–**मोह,** ज्ञान–**अहं** और विरक्ति–**आसक्ति** में रूपान्तरित हो गई। अतिशक्ति विरक्ति से प्रकट पांच-प्राणों के प्रतिरूप पाँच दैवीय गुणों का जीवात्मा में स्वतः पदार्पण हुआ था–प्राण प्राण से **शक्ति,** अपान प्राण से **ख्याति,** समान प्राण से **ऐश्वर्य,** उदान प्राण से **सौन्दर्य** और व्यान प्राण से **ज्ञान।** यह **विरक्ति** जब जीवात्मा की नाम-रूप की देह के साथ तद्‌रूपता में **आसक्ति** बनी, तो सौन्दर्य, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति और ज्ञान ये पाँचों विभूतियाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहं में रूपान्तरित हो गईं।

जन्म और मृत्यु के दो छोरों के मध्य हमारा सम्पूर्ण जीवन चलता है। अपना जन्म और मृत्यु किसी ने भी नहीं देखे। दोनों की विविध विधाएँ किसी के हाथ में नहीं हैं और मानव-बुद्धि की सोच से परे हैं। जन्म का समय, स्थान, ग्रह-नक्षत्र, विशिष्ट माता-पिता का होना कुछ भी हमारी सोच से नहीं होता। इसी प्रकार मृत्यु कब, कहाँ और कैसे होगी, कौन हमारी देह का संस्कार करेगा तथा उस भस्मी का क्या होगा, न हम जानते हैं, न अपनी बुद्धि से जान सकते हैं। **जन्म और मृत्यु के दोनों छोर जैसे हमारे लिए अनिश्चित हैं, वैसा मध्य भी है।** मध्य में जो हमारे द्वारा तथा हमारे लिए **'करना, पाना, खोना और होना'** होता है, वह परस्पर असम्बद्ध है। यह सब कुछ हमारे लिए या हमारे द्वारा उस स्वप्न-सृष्टि में होता है, जिसमें हमें ज्ञान नहीं है, कि यह सपना है। क्योंकि अपनी सुषुप्ति का ज्ञान नहीं है। **यदि सपने में ज्ञान हो जाए कि यह सपना है, तो जीवात्मा अपने विशुद्ध ब्रह्म-स्वरूप को पा जाए।** सद्‌गुरु यह Realise करवा देता है कि जगत सब सपना है। जगत है, लेकिन सपना है। इस स्वप्नवत् जगत में **'मैं'** और **'मेरा',** देह की नाम-रूप की अवचेतना में पहचान के कारण है। चेतना आच्छादित हुई तो अवचेतना बन गई।

हमारी **विरक्ति** जब **आसक्ति** बनी तो सब कुछ डाँवाडोल हो गया। हमें मात्र अपनी **आसक्ति** को **विरक्ति** में रूपान्तरित करना है। अच्छा सर्जन रोग के मूल में जाकर वहीं छोटा सा आपरेशन करता है। इसलिए

समर्थ सद्गुरु अपने सद्शिष्य को जीवन-काल में अपनी भस्मी की अवधारणा का सद् परामर्श देता है। **'भस्मी' शिव के वैराग की भौतिक प्रतिनिधि है।** यह पंच-महाभूतों से सर्वथा पृथक् तत्त्वातीत तत्त्व है। हमें आसक्ति की विकृति इसलिए हुई, क्योंकि देह के साथ नाम-रूप में तद्रूपता में विरक्ति ही आसक्ति बनी थी। जीवात्मा देह के साथ तद्रूपता में जब स्वयं को नाम-रूप की एक देह मान लेता है, तो जीव बनकर वैराग को भूल जाता है। वह वैराग ही आसक्ति बनकर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहं को विकृतियाँ बना देता है।

हमने इष्ट-कृपा से इन विकृतियों को दिव्य उत्प्रेरक माना है। यह तभी होगा, जब हमारी आसक्ति, विरक्ति में रूपान्तरित हो जाए। देह **में** आसक्ति हुई और देह **से** ही विरक्ति होगी। यह **'में से'** कारकातीत (**विरक्ति** कारक है)। जितना देह व जगत का व्यवहार है, वह आजीवन देह व जगत की आसक्तियों **में** आठ कारकों में चलता है। देहातीत आत्म-चिन्तन में प्रविष्टि इस विरक्ति कारक (**'में से'**) से ही होती है। **'में' Involvement** है और **'से' Solvement है। 'में'** तद्रूपता है और **'से'** जुदाई है। व्याकारण की दृष्टि से कारक आठ हैं—कर्त्ता **'ने'**, कर्म **'को'**, करण **'से'** (मिलना), सम्प्रदान **'के लिए'**, अपादान **'से'** (जुदाई), सम्बन्ध **'का', 'के', 'की'**, अधिकरण **'में', 'पर'** और सम्बोधन **'हे' 'अरे'।** ये सब कारक भौतिक जगत की विविध विधाओं में प्रयुक्त होते हैं। कोई घर **में** रहता है, इसका अर्थ है, कि घर पर उस **का** अधिकार है। जगत व्यवहार की दृष्टि से कारक अधिकरण **'में'** यह मान कर चला जाता है, कि घर **'का'** सम्बन्ध उस **'से'** है, क्योंकि वहाँ रहने **'में'** उस **'का'** अधिकार है। आध्यात्मिक दृष्टि से कोई वस्तु आपकी हो और उस पर आपका अधिकार भी हो यह आवश्यक नहीं है। घर आपका है, रह कोई और रहा है, धन आपका है और उसका भोग कोई और ले रहा है। ऐसा आम तौर पर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

आसक्ति और विरक्ति दोनों का अस्तित्व एक साथ नहीं रह

सकता। भौतिक जगत में हम अपने हर कृत्य से कुछ चाहते हैं, कि यह करके इस**में से** मुझे क्या मिलेगा? हम **'में'** और **'से'** को मिला देते हैं। अन्ततः संसार **'में से'** किसी को क्या मिला है? जो कुछ तथाकथित मिलता भी है, मृत्योपरान्त यहीं छूट जाता है। आसक्ति (में) को हम प्राथमिकता देते हैं और उससे कुछ न कुछ चाहते हैं। संसार में यह Involvement वास्तव में भ्रम है, यह Pseudo involvement है। जीवात्मा तो स्वतः solved है। देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता उसका भ्रम है। इसलिए इस आधार पर जो लिप्तताओं का भवन खड़ा हो जाता है, वह देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता का भ्रम के दूर होते ही ढह जाता है। जहाँ आसक्ति **(में)** पहले आ गई, वहाँ विरक्ति **(से)** हो ही नहीं सकती। इसलिए संसार **में से** हमें कुछ नहीं मिलता हम आसक्तियों को लेकर पुनः पुनः जन्मते मरते रहते हैं। युगों-युगान्तरों से यह सिलसिला चल रहा है।

से में कोई शब्द नहीं है। जहाँ विरक्ति (से) **पहले आ जाएगी, वहाँ आसक्ति** (में) हो ही नहीं सकती। धन, पद, सन्तान, प्रतिष्ठा आदि सांसारिक विधाओं **से** जहाँ विरक्ति हो जाएगी तो इनमें आसक्ति नहीं हो सकती। बिना लिप्तता के हम हर सांसारिक वस्तु का आनन्द लेंगे। इसलिए **वैराग को महाराग कहा गया है।** आसक्ति हमेशा देह में होती है। स्त्री, धन, सम्पदा, पद-प्रतिष्ठा, सन्तान, सम्बन्ध, नाम-यश, शक्ति तथा पाँचों इन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द आदि विषयों में आसक्ति होती है। इन्हीं आसक्तियों में जीवात्मा **'देह परदे ह'** लेता हुआ जीव बन कर अपने विशुद्ध स्वरूप से वंचित **सा** हो जाता है। देह परदा बनकर इसके अपने ही विशुद्ध स्वरूप को आवृत्त करती रहती है।

देह में नाम-रूप के साथ तद्‌रूप होकर **'मैं'** (जीवात्मा) आसक्त हो गया और मेरी सुकृतियाँ ही विकृतियाँ बन गईं। अतः अपनी विकृतियों को पुनः सुकृतियों में बदलने के लिए केवल आसक्ति को विरक्ति में बदलना है।

देह+नाम-रूप = नाम-रूप सहित देह = आसक्ति

देह–नाम-रूप = नाम-रूप रहित देह = विरक्ति

देह का नाम-रूप रहित देहातीत क्षेत्र मात्र **'भस्मी'** है। देह के उस नाम-रूप रहित क्षेत्र में **'देह'** नहीं रहेगी। **'मैं'** देह में रहते हुए नाम-रूप के साथ तद्रूपता में **आसक्त** हो गया, जब देह के रहते हुए **भस्मी** के साथ तद्रूप होऊँगा, तो **विरक्त** हो जाऊँगा। भस्मी देह की ही है। देह है तो भस्मी बनेगी ही, लेकिन जब भस्मी बनेगी तो देह नहीं रहेगी।

मानव-देह का एक लक्ष्य था। Outcome **of** life is **off** the life. जीवन **में** जितनी चाहतें हैं, उसमें जीवन के निश्चित भविष्य **'भस्मी'** का थोड़ा सा जामन लगा दो। जीवन **में** सब कुछ काल्पनिक ही है, पता नहीं कब क्या होगा, परन्तु जीवन **का** यह भविष्य (**भस्मी**) तो अवश्य बनेगा। मानव होने के नाते हम सब यह अच्छी तरह से जानते हैं, पशु यह नहीं जानता। **मानव-जीवन धारण करके रोज़ कुछ मिनट मैं अपनी भस्मी की अवधारणा क्यों न करूँ।** जो कुछ मैं कर रहा हूँ, पा रहा हूँ, खो रहा हूँ और जो कुछ जीवन **में** हो रहा है, सब अनिश्चित है, परन्तु जीवन का भविष्य, भस्मी सुनिश्चित है। हर क्षण मृत्यु और पास आ रही है। मैं नाम-रूप की देह से स्वयं को पहचान कर नित्य 4 – 5 मिनट ही सही, अपने उस निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य की अवधारणा कर लूँ, तो प्रभु-कृपा से अवश्य ही **'छुटकारा'** का अदृश्य दस्तावेज (Document) मिल जाएगा। **'छुटकारा'** पाने पर सब कुछ स्वतः ही छूट जाएगा। जीवन में भौतिक उपलब्धियों का महात्म्य समाप्त हो जाएगा एवं आध्यात्मिक जगत में स्वतः प्रविष्टि हो जाएगी।

भस्मी देह का **'विदेश'** है। यह वह देहातीत क्षेत्र है, जहाँ देह नहीं रहती, लेकिन वह देह का निश्चित, परिलक्षित और दर्शित भविष्य है। भारतीय मूल के अनेक लोग धन अर्जित करने के लिए अथवा उच्च डिग्रियाँ लेने के लिए विदेश जाते हैं। कुछ वहीं बस जाते हैं, लेकिन जो भारत वापिस लौट आते हैं, वे उन प्रतिभाओं, डिग्रियों व धन-सम्पदा का भरपूर भोग करते हैं और आनन्द लेते हैं। **भस्मी विरक्ति है, जो देहातीत है।** तो नित्य पाँच-दस मिनट जीवन के रहते उस देहातीत विरक्ति के क्षेत्र की अवधारणा

करें, उस मानसिक स्थिति में विहार करें और फिर देह में लौट कर उस अनुभूति का आनन्द लें। आत्म-विद्या यही **'छुटकारा'** है, अध्यात्म-विद्या का वास्तविक मूल्यांकन भी तभी हो पाएगा। देह और जीवन में लिप्तताओं के रहते जीवन का आनन्द कोई नहीं ले पाया।

हमें भली-भाँति समझ लेना चाहिए, कि जीवन का सम्पूर्ण Outcome जीवन के बाहर है और वह जीवन का है। जीवन का Outcome प्रभु ने जीवन के बाहर इसलिए रखा है, कि मानव होने के नाते प्रभु-कृपा से उसे जीवन में देखें '(Visualisation)', उसे जाने '(Observation)' और उसकी अनुभूति '(Realisation)' करके अनुभूतिगम्य जीवन का आनन्दपूर्वक भोग करें। शेष जो कार्य हम जीवन में कर रहे हैं, वे तो हमारे बिना भी हो जाएँगे। To realise the future **of** life which is **off** the life, we need life. जीवन **में** विभिन्न भविष्यों की हम कल्पना ही करते हैं, कि ऐसा करूँगा तो यह पा लूँगा अथवा अमुक-अमुक से पीछा छूट जाएगा और यह हो जाएगा। इस **करना, पाना, खोना** और **होना** में सब सम्बन्ध काल्पनिक हैं।

'छुटकारा' एक दैवीय दस्तावेज है, जिसे जीवन **का** भविष्य **'भस्मी'** की जीवन **में** अवधारणा करके प्रभु-कृपा से प्राप्त किया जा सकता है। फिर शेष करना, पाना, खोना और होना हमारे लिए महत्त्वहीन हो जाता है। जिन वस्तुओं को हम पाना चाहते हैं, वे बिना कुछ किए हमारी ओर आने लगती हैं। जब तक यह **छुटकारा** नहीं मिलेगा, तब तक हमारी वस्तुएँ धन-सम्पदा, स्त्री, सन्तान, प्रौपर्टी, डिग्रियाँ आदि हमारे तनाव का कारण बनी रहेंगी। **यहाँ तक कि हमारी देह ही हमारी शत्रु बनी रहेगी।** वस्तुओं से छूटकर **'छुटकारा'** नहीं मिलता, बल्कि **'छुटकारा'** मिलने पर सब कुछ छूट जाता है। जहाँ यह **'छुटकारा'** का दस्तावेज़ मिल जाएगा, आत्मज्ञान वहाँ से प्रकट होना प्रारम्भ हो जाएगा। आपके पास यह छुटकारा नहीं है, लेकिन आप उसे पाने के लिए लालायित हों, तो भी प्रभु-कृपा हो जाती है। यह **छुटकारा'** का Document कैसे मिले?

हमारा एक स्वप्न दूसरी स्वप्नावस्था में टूटता है। जिसमें सपना सुनाते हैं, कि मैंने सपना देखा वह भी सपना है, इसका ज्ञान हमें नहीं होता। जैसेकि स्वप्न देखते समय यह ज्ञान नहीं था, कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। क्योंकि मुझे अपनी सुषुप्ति का ज्ञान नहीं था। अब तथाकथित जाग्रतावस्था में उठने के बाद यह ज्ञान होता है, कि मैं सोया हुआ था और वह सब सपना था। लेकिन अब भी यह मालूम नहीं है, कि मैं सोया हुआ हूँ और यह स्वप्न है। **सद्‌गुरु यह भ्रम तोड़ता है।** स्वप्न के समाप्त होने के बाद कुछ भी शेष नहीं रहा, न वह देह, न उस समय का जगत। उसमें जो कुछ भी देह रूप में किया, पाया, खोया और हुआ, वह सब कुछ उस स्वप्न की देह के साथ ही समाप्त हो गया। उस समय के पंच-महाभूतों में मौसम, जड़-चेतन सब कुछ लय हो गया। लेकिन स्वप्न में जो कुछ भी हुआ, उससे **एक मानसिकता** शेष रही और इसलिए शिष्य भ्रमित सी अवस्था में सद्‌गुरु से इसका अर्थ जानना चाहता है।

स्वप्न की देह के साथ जो कुछ हुआ उसकी मानसिकता में उसकी छाप है। यद्यपि न वह स्वप्न की देह अब है और न ही उस समय का जगत है। लेकिन देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता के कारण दूसरे स्वप्न में उसकी मानसिकता पहले स्वप्न से प्रभावित है। उसे यह नहीं ज्ञान है, कि यह भी स्वप्न है जिसमें वह बता रहा है, कि स्वप्न में ऐसा हुआ था। स्वप्न में वे सब वस्तुएँ, प्राणी, परिस्थितियाँ और जो कुछ भी खोया-पाया था, वह समाप्त हो गया। उसका लेश मात्र भी न कुछ शेष है और न अवशेष है। **पुरानी हवेलियों व महलों के अवशेष खण्डहरों के रूप में मिलते हैं, लेकिन स्वप्न का तो जो कुछ था, उसका कुछ अवशेष भी शेष नहीं रहता।** तथाकथित जागृति में नाम-रूप की देह के साथ तद्‌रूपता में वह यह मान रहा है, कि **'मैं'** वही स्वप्न वाला व्यक्ति हूँ। **यही महाभ्रम है। स्वप्न की समाप्ति पर मात्र वह मानसिकता शेष रहती है, जिसमें वह स्वप्न चला।** तथाकथित जागृति में यदि कुछ स्वप्न जैसा होता भी है, तो वह भी उसी शेष मानसिकता का प्रकाट्‌य होता है। किसी-किसी को स्वप्न में होने

वाली घटनाओं से आगे होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास हो जाता है। वस्तुतः **यह स्वप्न के बाद शेष रही मानसिकता का प्रकाट्य ही होता है।** यह मानसिकता एक Recorded Cassett है, जो निराकार है जिससे उसका पुनः जगत के विभिन्न साकार रूपों में प्रकाट्य हो जाता है। यह साकार प्रकाट्य निराकार पर्दे पर होता है। प्रकाट्य के बाद पर्दा वैसा का वैसा ही निराकार रह जाता है।

चार व्यक्ति एक फिल्म देखने गये, तो फिल्म समाप्त होने पर सबकी अपनी-अपनी मानसिकता के अनुसार भिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं। फिल्म देखने के बाद का प्रभाव सबकी अपनी-अपनी मानसिकता होती है, उसी अपनी-अपनी मानसिकता में वे चारों फिल्म देखने गये थे। **उसी मानसिकता में उन्होंने पूरी फिल्म देखी और देखने के बाद वही मानसिकता शेष रही।** बस यही सबका अपना-अपना जगत है। प्रातः काल निद्रा से उठ कर **'ध्यान समाधि'** का महत्त्व सर्वोपरि है। **प्रभु में ध्यान लगाने से हमारी मानसिकता दिव्य हो जाती है।**

स्वप्न-सृष्टि का प्रकाट्य हमारी मानसिकता पर आधारित है। इस मानसिकता का आधार है—हमारी निद्रा का स्तर। निद्रा में हम अपने नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होते और हमारा जगत भी नहीं होता। **निद्रा में नाम-रूप की अवचेतना न होने की चेतना भी हमें नहीं होती। इसीलिए निद्रा को जड़ता कहा है।** इसी निद्रा में जब स्वप्न आता है, तो स्वप्न में हम अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में होते हैं और हमारा जगत भी होता है। स्वप्न में हम सुखी-दुःखी होते हैं। हमें ज्ञान नहीं होता कि यह स्वप्न है। क्योंकि हमें अपनी निद्रा की स्थिति का ज्ञान नहीं होता। स्वप्न की नाम-रूप की देह की अवचेतना और जगत का साकार प्रकाट्य हमारे उस निराकार मानस के पर्दे पर होता है, जिसमें हम नाम-रूप की देह और जगत की अवचेतना में बिल्कुल नहीं होते तथा इस अवचेतना के न होने की चेतना भी हमें नहीं होती। तथाकथित जागृति में हम अपनी निद्रा को नहीं जानते, लेकिन स्वप्न को जानते हैं। उसी मानसिकता में

उठते हैं, जिसमें स्वप्न प्रकट हुआ, चला और समाप्त हुआ।

उसी मानसिकता में तथाकथित जागृति में नाम-रूप की देह की अवचेतना होती है और उसी में जगत प्रकट होता है। पहले स्वप्न की भाँति नाम-रूप की देह की अवचेतना की मानसिकता में हमारी देह और जगत पुनः प्रकट हो जाता है। पुनः यह ज्ञान नहीं होता, कि यह सपना है, क्योंकि अपनी निद्रा का ज्ञान नहीं है। हर स्वप्न निद्रा में निद्रा की मानसिक स्थिति से ही प्रकट होता है। निद्रा की स्थिति है, कि नाम-रूप की देह की अवचेतना और जगत है ही नहीं और स्वप्न में नाम-रूप की देह की अवचेतना और उसी अवचेतना में जगत है। **यदि हम समाधि द्वारा निद्रा की मानसिकता को Observe, Visualise और Realise कर लें, तो जगत की स्वप्नवत् प्रतीति हो जाएगी।** निद्रा में हम अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होते, इसलिए अपनी देह और जगत की प्रतीति नहीं होती लेकिन एक हमारी मानसिकता होती है जिसका प्रकाट्य स्वप्न में नाम-रूप की देह की अवचेतना में देह और जगत की प्रतीति के रूप में होता है।

जिस मानसिकता में हम सोए वही मानसिकता स्वप्न में नामरूपात्मक सृष्टि के विभिन्न नाम-रूपों में प्रकट हुई उसी में स्वप्न चला और समाहित हो गया। हमें किसी भी प्रकार से अपनी निद्रा की Consciousness होनी आवश्यक है, जिसमें नाम-रूप की देह व जगत है ही नहीं। That consciousness of non-consciousness is called Awareness. समाधि में हम अपनी उस मानसिक स्थिति को देखते हैं, जानते हैं और अनुभूति करते हैं, जिसमें हमें देह के नाम-रूप की अवचेतना नहीं होती। इसलिए हमारा कोई जगत भी नहीं होता। हम अपने इष्ट व सद्गुरु में ध्यान एकाग्र करके, नाम-जाप, भजन-कीर्तन अथवा किसी भी प्रकार से देह के नाम-रूप की अवचेतना से अपनी चेतना (विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप) की अनुभूति करते हैं। इसे शास्त्र ने समाधि अवस्था या निद्रायोग कहा है। **ये 21 प्रकार की समाधियाँ वस्तुतः 21 प्रकार की दिव्य मानसिकताएँ है।**

इनमें हमारी अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना और तदनुसार जगत की अवचेतना नहीं रहती।

इष्ट के प्रेम में भाव-विभोर होकर जब हम सुध-बुध खोते हैं, तो **सुध-बुध खोने में भी एक सुध-बुध रहती है, वह हमारी दिव्य मानसिकता होती है।** जिससे नाम-रूप की देह और जगत पुनः प्रकट होता है। उसी में चलकर उसी में लय हो जाता है। ये मानसिकताएँ हमारा जगत बन कर प्रकट होती हैं और 21 प्रकार की समाधियाँ हमारे भौतिक सुख-दुःखमय जगत को दिव्य आनन्दमय जगत में रूपान्तरित कर देती हैं। समाधि में हम सद्गुरु-कृपा से इष्ट के ध्यान में होंगे, विशेष मन्त्रों के प्रभाव में होंगे, नाम-जाप, भाव या प्राणायाम समाधि में होंगे। भावों में भी विभिन्न समाधियाँ हैं। इष्ट के साथ रोष, उलाहना, प्रेम, विरह, रुदन आदि विभिन्न भाव-स्थितियों में समाधि की विभिन्न मनोभूमियाँ होती हैं। ज्ञान-समाधि, ध्यान-समाधि, प्राणायाम-समाधि। संसार में हम जीव भाव की **अवचेतना** में पृथक्-पृथक् लोगों के साथ विभिन्न भावों में विचरते हैं, लेकिन जब हम इष्ट या सद्गुरु के साथ विभिन्न भावों में विचरते हैं, तो वे भाव, समाधि की **चेतनामयी** मनोभूमि में प्रस्फुटित होते हैं।

असंख्य चाहतों की पूर्ति द्वारा हम वस्तुतः पाँच दिव्य मानसिकताएँ (सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य और ख्याति) ही चाहते हैं। ये मानसिकताएँ वैराग की उपेक्षा के कारण आच्छादित हुई थीं। देह की भस्मी की अवधारणा वैराग को अनाच्छादित कर देती है। **यह वैराग ईश्वर के प्रेम और भक्ति के रूप में प्रतिफलित होता है, तो चाहतों का महत्त्व नगण्य हो जाता है।** जब आप देह के **'कुछ नहीं'** (भस्मी) से इश्क करते हैं, तो वह अपना सब कुछ आप पर न्योच्छावर कर देती है। देह **से,** देह **द्वारा,** देह **का भविष्य (भस्मी) छूकर देह में लौटना, यही मानव-देह धारण करके मानव-जीवन जीने का लक्षण है।**

मानव-जीवन धारण करना **सार्थ** है, यानि अर्थ सहित है। इसे हमने **यथार्थ** की संज्ञा दी थी। अर्थ और धर्म के बीच यही बहुत महत्त्वपूर्ण कड़ी

है। देह **में** रहते हुए इसका शेष (भस्मी) धारण कर लीजिए और फिर देह **में** आ जाइए। देह **में से** देह का सब कुछ ले लीजिए, वह है **'भस्मी'**—यही शिवत्व का रहस्य है। शव को छोटी 'इ' की मात्रा लगाने से **'शिव'** बनता है। छोटी 'इ' की मात्रा उसकी अतिशक्ति **विरक्ति** है। जब **'मर मर'** के हम अपने सद्गुरु या इष्ट में **'रम'** गये, तो देह अपना सब कुछ लुटा देगी। ***ढाई आखर इश्क का पढ़े सो पंडित होए***। ईश्वर के इश्क में आसक्त और संसार से विरक्त देह किसी एक नाम-रूप से नहीं बँधती। देह में एक नाम-रूप से जब **मैं** (जीवात्मा) तद्रूप हुआ, तो आसक्त हो गया और जब देह के रहते हुए **'भस्मी'** से तद्रूप होगा, वह उसकी विरक्त देह होगी, जो हर्ष, उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता, सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य एवं ख्याति आदि विभूतियों से परिपूरित होगी।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(16 अप्रैल से 11 मई, 2007)

विकृति-विरक्ति

'सद्' का भूले-भटके, ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से किया गया **'संग'** (**सत्संग**) हमारी चेतना का अविभाज्य अंग अवश्य बन जाता है। वह कालान्तर में समय आने पर **'सद्गुरु-दर्शन'** बनकर प्रकट हो जाता है। साथ ही वह एक **अभेद्य कवच सा** बनकर समय-समय पर हमारा **हित** भी सुरक्षित करता रहता है। सद्गुरु की कृपा हमेशा अकारण होती है। उसकी **अहेतुकी कृपा** शरणागत एवं समर्पित भक्त को उसकी **विकृतियों** से भी **विरक्ति** में ले जाते हुए उसे **'सद्गुरु-दर्शन'** का अधिकारी बना देती है। **सद्, चेतन और आनन्द में जहाँ कोई भी एक होगा, वहाँ तीनों अकाट्य व अखण्ड रूप से होंगे।** कोई भी कृति, विकृति, स्वीकृति, आकृति अथवा निराकृति यदि इन तीनों में से एक से भी युक्त होगी, तो वह सच्चिदानंद ही होगी। ऐसा कोई कृत्य अथवा अकृत्य जो आनन्द से परिपूरित होगा, उसके कर्ता हम कभी नहीं होंगे। अतः **'पुण्य-पाप'** की लिप्तता उसमें नहीं रहेगी। वह कर्म हमारे द्वारा होगा, उसके प्रारम्भ होने से पहले हृदय में उल्लास होगा, कृत्य के दौरान हम प्रफुल्लित व हर्षित रहेंगे और कृत्य की समाप्ति भी आनन्द में ही होगी। **उसका फल कुछ खोना (छुटकारा पाना) अथवा पाना नहीं होगा। जिस कृत्य के पीछे हमारे हृदय में कुछ पाने (पाना-पाना) अथवा किसी समस्या, व्यक्ति, वस्तु अथवा इनसे सम्बन्धित किसी विधा से छुटकारा पाने (खोना-पाना) की आकांक्षा होगी, वह आनन्दयुक्त नहीं हो सकता। वह चिन्तायुक्त होगा, उसमें हम तनावित रहेंगे।**

जब अपनी कर्मेन्द्रियों द्वारा हम कोई भी कृत्य करते हैं, तो उसका निर्देशक हमारे मन एवं बुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। मन और बुद्धि के पारस्परिक सम्बन्धों का बाह्य प्रकाट्य हमारा **'कर्म'** है। हमारी बुद्धि में जब कुछ भी **करने** का विचार आता है, तो फाइल तुरन्त मन के पास जाती है। मन भी जब स्वीकृति दे देता है, तब वह भावमय विचार कृत्य रूप में प्रकट होता है; नहीं तो नहीं होता। बुद्धि में किसी को थप्पड़ मारने का विचार आया, मन में पहले ही क्रोध का भाव था, यदि मन नहीं माना, तो हम अपना क्रोध, कृत्य (थप्पड़ मारना अथवा कटु वचन कहना) के रूप में प्रकट नहीं करते। कई बार मन में भाव आता है और बुद्धि स्वीकार नहीं करती। कृत्य बाहर प्रकट तभी होता है, जब मन और बुद्धि दोनों स्वीकृति दे दें, लेकिन **इसके बाद भी उच्चतम नियन्त्रण दैवीय शक्तियों द्वारा होता है।**

कोई कार्य करने हम निकल पड़े, लेकिन ऐसा दैवीय अवरोध आ गया, कि हम नहीं कर पाए। उस समय हम मज़बूरी के वशीभूत तनावित और दुःखी हुए, कि यह अवरोध क्यों आ गया। लेकिन कालान्तर में हम प्रसन्न हुए, कि प्रभु ! यदि मैं यह कर लेता तो **अनर्थ** हो जाता अथवा मेरा यह करना **व्यर्थ** हो जाता अथवा यह हो भी जाता, तो क्या अन्तर पड़ना था (**निरर्थ**)। कभी-कभी कोई कार्य करने की हमारी तीव्रतम इच्छा होती है, मन-बुद्धि दोनों का निर्णय हो जाता है, कि कर लो। हमारी कर्मेन्द्रियाँ तत्पर हो जाती है, लेकिन हम करते-करते रह जाते हैं। ऐसे मज़बूर हो जाते हैं, कि नहीं कर पाते। कुछ दैवीय अवरोध, आपत्कालीन परिस्थितियाँ, विविध पारिवारिक विधाएँ, अड़चन बन कर उस कार्य में रुकावट बन जाती हैं। **इस प्रतिरोध के पीछे ईश्वरीय कारण होते हैं। हमारे मन-बुद्धि से ऊपर, उच्चतम नियन्त्रण ईश्वरीय इच्छाओं एवं प्रेरणाओं का होता है। यह 'उच्चतम केन्द्र' सबका एक ही है।**

हमारी मानवीय बुद्धि तथा मन, **हित-अहित** का निर्णय नहीं कर सकते। **लाभ-हानि** का निर्णय कर सकते हैं। ईश्वरीय बुद्धि (**चेतना**) और

मन (**आनन्द**) के समन्वय का बाह्य प्रकाट्य **'हित'** (**सद्**) में होता है। **'दैवीय प्रतिरोध'** एक आशीर्वाद एवं हित है। यदि हम ईश्वर के चरणों में तहे-दिल से समर्पित हो जाते हैं अथवा हमारी बुद्धि में ईश्वर के प्रति तनिक भी समर्पण भाव आ जाता है, तो वह दैवीय रिकार्ड में अवश्य आ जाता है। **कभी हमने किसी संत का श्रद्धा व प्रेमपूर्वक समर्पण भाव से श्रवण किया हो, कभी भावपूर्वक स्वार्थहीन होकर सेवा की हो, तो उसका फल अक्षुण्ण होता है।** जीवन में कभी-कभी हम काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहं आदि विकृतियों के वशीभूत हो जाते हैं। अज्ञानवश अपना हित-अनहित हम नहीं देख पाते और कुछ करने को आतुर एवं तत्पर हो जाते हैं। कभी पूर्व नियोजित कार्य को नहीं करना चाहते, तो वहाँ प्रभु न केवल प्रतिरोध करते हुए हमारा हित करते हैं, बल्कि हमारी विकृतियों को ही **'विरक्ति'** में रूपान्तरित कर देते हैं।

सद्गुरु दर्शन में कुछ दैवीय आवश्यकताएँ हैं। **यद्यपि इष्ट-कृपा व सद्गुरु-कृपा अकारण होती है, लेकिन कृपा पात्रता के लिए कुछ आवश्यकताएँ हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, कि हम अपने ऊपर हुई कृपा का कारण स्वयं को न समझें।** प्रभु ने अपनी असीम कृपा से मुझ (जीवात्मा) को मानव-देह देकर अनुगृहीत किया। इसका मिलना मेरे किसी पुण्य प्रताप अथवा मेरी किसी विशेषता से नहीं, बल्कि उसकी मेरे ऊपर अकारण कृपा के कारण ही हुआ। जहाँ स्वयं की देह में कारण का रंच मात्र भी स्पर्श होगा, वहाँ कृपा हो ही नहीं सकती। **सभी कारणों के कारण प्रभु हैं।**

सद्गुरु दरबार में जब हम अपने समस्त कारणों का समर्पण कर दें कि, मैं विधिहीन, क्रियाहीन और असमर्थ, अशक्त, तन-मन-धनहीन हूँ, तथा यह समर्पण-भाव हमारे नेत्रों से अश्रु बन कर उमड़ पड़े, तो हम इष्ट की कृपा पात्रता तथा सद्गुरु-दर्शन के अधिकारी हो जाते हैं। **हम समर्थ होते हुए भी उस समर्थ को पूर्णतया अपनी असमर्थता मानें।** यह भाव भी कृपा-साध्य है। लेकिन ऐसी स्थिति में हम कृपा के बहाव को अपनी ओर

आने देते हैं। दूसरी स्थिति में यदि रंच मात्र भी अपनी समर्थता का भाव होगा, तो हम कृपा के बहाव में स्वयं ही बैरियर बन जाते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड में एक कण भी प्रभु की इच्छा के बिना नहीं हिलता। अपनी देह सहित जो भी दृश्यमान सृष्टि है उसमें सब कारणों के कारण (कारणकारणानाम्) प्रभु हैं।

अध्यात्म वास्तव में मन्थन है। मन-बुद्धि से उठे भावों एवं विचारों तथा देह से हुए कृत्यों का इतना मन्थन करना है कि वे देह के न रहें। जैसे दूध में समानतया व्याप्त घी, दूध से बने दही का मन्थन करने से प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार हमारा जितना भौतिक परिदृश्य है, उसमें शब्द, विचार, भाव, कृत्य-अकृत्य, मन्त्र आदि का जब लोम-विलोम मन्थन होता है, तो वहाँ से आत्म ज्ञान प्रकट होता है। **द र श न = दर्शन, दे शरण** ही **दर्शन** है। **जो दर्शनाभिलाषी होगा, वह शरणाभिलाषी और समर्पित होगा।** दार्शनिक वह है, जो शरण में जा चुका है, वह ज्ञानी हो, न हो। **'ज्ञानी'** और **'दार्शनिक'** में बहुत बड़ा अन्तर है। दोनों का परस्पर न सम्बन्ध है और न किन्हीं सोपानों से गुज़र कर ज्ञानी, दार्शनिक हो सकता है। दार्शनिक वस्तुतः **दर्शनीय** है और **शरण** दे सकता है। **'दर्शन'** का अंग्रेज़ी अनुवाद **Philosophy** नहीं है। श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन को दर्शन दिया था, क्योंकि वह ही पूर्ण समर्पित और शरण में जाने योग्य था। जब तक **'दे शरण'** की भावना नहीं होगी, तब तक महापुरुषों व संतों के मात्र स्थूल दर्शन से ही हम कुछ लाभ नहीं उठा पाएँगे।

शरणार्थी स्थिर, समर्पित और सद् को धारण करने की क्षमता से युक्त होता है। जिसने प्रभु के चरणों में अपना मन समर्पित कर दिया, उसका मन आनन्द से ओत-प्रोत हो जाएगा और बुद्धि चेतनामयी हो जाएगी। हमारी देह में सतत् चल रही समस्त आन्तरिक अदृश्य क्रियाओं को हमारे अपने मन-बुद्धि का हस्तक्षेप ही असन्तुलित करता है। **सद्गुरु दर्शन हमें तभी होगा, जब हमारा मन आनन्दमय और बुद्धि चेतनामयी होगी। सद्गुरु दर्शन भी हमारी देह की आन्तरिक क्रियाओं का बाह्य**

प्रकाट्य है। दिव्य-दृष्टि सद्‌गुरु स्वयं देता है, तभी श्रद्धालु भक्त को उसकी शरण मिलती है।

जीवन में कभी-कभी दोराहा आने पर हम अपनी प्राथमिकताओं के आधार पर ही निर्णय करते हैं कि हम किस ओर जाएँ। **किसी विशेष दिशा की ओर प्रेरित करने वाली प्रेरणाओं और प्राथमिकताओं के नेपथ्य में भौतिक स्वार्थ हमारा लक्ष्य है अथवा आत्म-चिन्तन एवं जीव-भाव से मुक्ति; लक्ष्य के प्रति हमारी इस नीयत के अनुसार ही 'सद्‌गुरु-कृपा' प्रवाहित होती है।** अपनी प्राथमिकताओं (Priorities) स्वतः भाव (Spontanisity) और नीयत (Intention behind it) के निर्णायक हम स्वयं होते हैं, दूसरा कोई नहीं होता। दूसरों के सामने हम आडम्बर करके स्वयं को किसी भी रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, लेकिन हम स्वयं को धोखा नहीं दे सकते।

मानव-देह धारण करके जीव-भाव में अपनी विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति द्वारा हम पाँच प्रकार की मानसिक स्थिति चाहते हैं। सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति मनःस्थितियाँ हैं, जिनका दृश्यमान जगत में हुई प्राप्तियों और इच्छाओं की पूर्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। **ये पाँचों मानसिक स्थितियाँ जीवात्मा की स्वरूपगत निधियाँ हैं, जो देह को अपना स्वरूप मानने के भ्रम में, वैराग की उपेक्षा के कारण आच्छादित हो जाती हैं।** जीव बनकर जीवात्मा साकार दृश्यमान जगत के पदार्थों, प्राणियों और इनसे सम्बन्धित विधाओं में इन्हें खोजने लगता है। **ऐश्वर्य** धन से नहीं खरीदा जा सकता, **धन के लोभ में** ऐश्वर्य खो जाता है। **सुख, शान्ति, संतोष, स्वजन, स्वास्थ्य व सत्संग को यह धन का लोभ चाट जाता है।** दैहिक शक्ति या बौद्धिक परिपक्वता **'शक्ति'** का मापदण्ड नहीं है। धन-बल, जन-बल, सन्तान, पद या प्रतिष्ठा की शक्ति जीव की आसक्तियाँ बढ़ाकर इसे और भी अशक्त कर देती हैं। **आसक्ति विकृति है और सभी विकृतयों का मूल है तथा विरक्ति समस्त सुकृतियों एवं विभूतियों का मूल है।**

जीवात्मा स्वयं में शक्ति-पुंज है, सूर्य की शक्ति क्षीण हो सकती है, जीवात्मा की नहीं। जीव-भाव में उसकी विरक्ति की शक्ति आच्छादित हुई, तो जीवात्मा देह द्वारा, देह और देह पर आधारित जगत में बहुत सी शक्तियाँ एकत्र करते हुए आसक्त यानि अशक्त रहता है। **भौतिक जगत में असंतुष्ट व्यक्ति आध्यात्मिक जगत में असफल हो जाता है।** उसकी किसी भी स्तर की असन्तुष्टि मृत्यु के समय आसक्ति में रूपान्तरित होकर उसे जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में भटकाती है। वह निरन्तर शक्तियों को प्राप्त करते हुए भी अशक्त ही रहता है। वह अपनी शक्तियों को भोग नहीं पाता और उसमें मानसिक विकृतियाँ आ जाती हैं। वह बाहरी दिखावा करता है, बड़ी-बड़ी डींगे मारता है, अहंपूरित रहता है। उसकी शक्तियाँ या तो व्यर्थ जाती हैं अथवा उसी के सामने मानसिक रूप से सशक्त लोग उनका भोग करते हैं। इसलिए अन्ततः वे जीवन में असफल रहते हैं।

'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत', मन जब तक सशक्त नहीं होगा, तब तक हम जीवन में असफल ही रहेंगे। वहाँ हमारा सब कुछ **'सील'** हो जाता है। प्राप्तियाँ व वस्तुएँ बढ़ती रहती हैं, लेकिन खुशी समाप्त हो जाती है। हमारे समय तथा भौतिक शक्तियों का हम स्वयं उपयोग नहीं कर सकते। हमारी अपनी सोच तथा देह-चिन्तन भी किसी और के लिए होता है। दृश्यमान शब्द **'आसक्त'** है, लेकिन इसमें अदृश्य अर्थ छिपा है— **'अशक्त'।** अशक्त व्यक्ति भयभीत होता है, असुरक्षित महसूस करता है, इसलिए वह अपनी भौतिक शक्तियों का प्रयोग किसी को बाँधने के लिए करता है। हमारा लक्ष्य मानसिक शक्ति का प्रकाट्य होना चाहिए। यह शक्ति **'विरक्ति'** है। जब हम समर्पण भाव से यज्ञ, हवन, दान-पुण्य, सद्गुरु-सेवा आदि करते हैं, तो हमारी मानसिक शक्ति बढ़ती है। **मानसिक शक्ति का अर्थ निर्विकार, अभय, विक्षेपरहित, निश्छल एवं वैरागयुक्त आनन्दमय मानस है।** इस आत्म-बल से हमारी विभूतियाँ स्वयं प्रकट होने लगती हैं।

वास्तव में ब्रह्मज्ञान और आत्मज्ञान उन लोगों के लिए है, जो देह और देह पर आधारित जगत के प्रति निर्लेप, निर्विकार व उदासीन हैं। देह की सभी स्थितियों से परम सन्तुष्ट हैं और जिनमें सांसारिक राग, द्वेष का नितान्त अभाव है तथा जो प्रसन्नचित्त एवं आनन्द से भरपूर हैं। आत्म-चिन्तन देह द्वारा है, लेकिन देह का नहीं है। हम नाम-रूप की देह में फँसे हैं और देह से ही बाहर निकलेंगे। सद्गुरु आत्मोत्थान के लिए ब्रह्म-विद्या का उपदेश देते हैं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को रणभूमि में सम्पूर्ण ब्रह्म-विद्या व आत्मज्ञान के सार रूप में गीता का उपदेश दिया। महाभारत की रणभूमि में जहाँ सम्पूर्ण भारत और उपमहाद्वीपों के राजा अपनी सेनाओं सहित एक दूसरे के खून के प्यासे खड़े थे, जहाँ एक मृत्योत्सव होने जा रहा था, वहाँ श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया, वह विशिष्ट आपद्कालीन परिस्थितियों में सूत्ररूप में दिया गया समस्त वेदों, पुराणों, शास्त्रों एवं उपनिषदों का सार था। **वह साधारण ब्रह्म-ज्ञान नहीं था। इस गीतोपदेश ने भारत का इतिहास एवं भूगोल बदल दिया।**

अर्जुन को यह ज्ञान नहीं था, कि श्रीकृष्ण साक्षात् परमेश्वर हैं। वह उन्हें अपना परम हितैषी सखा व सम्बन्धी मानता था। अर्जुन को श्रीकृष्ण पर पूर्ण विश्वास था, कि उनके साथ रहते उसका अहित हो ही नहीं सकता। इसलिए उसने पूर्णतः अपने मन का समर्पण कर दिया था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण महाभारत के युद्ध की घोषणा होते ही मिल जाता है। संयोगवश दुर्योधन और अर्जुन युद्ध के लिए सहायता की याचना करने एक ही साथ श्रीकृष्ण के पास द्वारका पहुँचे। भगवान ने अपनी समस्त चतुरंगिणी सेना एक ओर तथा दूसरी ओर स्वयं के निहत्थे रह कर मात्र सारथी होने, में से एक का चुनाव करने का प्रथम अधिकार अर्जुन को दिया। इतने बड़े महायुद्ध में सेना से ही सहायता हो सकती थी। लेकिन फिर भी अर्जुन ने समस्त सेना को ठुकराते हुए श्रीकृष्ण से निहत्थे, मात्र सारथी बनकर अपनी ओर रहने की याचना की। इसका स्पष्ट अर्थ है, कि अर्जुन यह जाने बिना, कि श्रीकृष्ण परमात्मा के सोलह कला सम्पूर्ण अवतार हैं, उन्हें अपना मन

समर्पित कर चुका था। सेना को ठुकरा कर युद्ध के लिए निहत्थे श्रीकृष्ण को मांगने वाला या तो पागल होगा अथवा पूर्णतः समर्पित होगा। **अर्जुन पागल नहीं था, बल्कि भावुक था। उसे अटल विश्वास था, कि श्रीकृष्ण के साथ रहते उसका कोई अहित नहीं हो सकता।** युद्ध के लिए उसे अपने गाण्डीव की शक्तियों पर पूर्ण विश्वास था, कि चाहे विपक्ष में श्रीकृष्ण की अपनी ही सेना क्यों न हो, वह सबको परास्त कर सकता है। अर्जुन महा योद्धा, महारथी और अपने गुरु का आशिष्य सर्वोत्तम शिष्य था।

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हुआ और भगवान श्रीकृष्ण ने अपना चमत्कार दिखाया। युद्ध-भूमि में जब युद्ध प्रारम्भ करने के लिए दोनों पक्षों के शंखनाद हो चुके, तो अर्जुन ने सारथी बने श्रीकृष्ण से अपना रथ दोनों सेनाओं के मध्य में ले जाने के लिए कहा। **विपक्ष में अपने सम्बन्धियों तथा गुरुजनों को देखकर वह मोहवश विषादग्रस्त हो गया। उसे अपने गाण्डीव की शक्तियों पर अहंपूर्ण विश्वास था, कि वह इन सबको मार तो देगा ही। इसलिए वह अवसाद में घिर गया, कि अपने ही गुरुजनों और सम्बन्धियों को मार कर यदि राज्य मिला, तो उसका लाभ ही क्या है !** उसे यह सन्देह बिल्कुल नहीं था, कि पता नहीं वह उन्हें जीत पाएगा या नहीं। उस अवसाद एवं विषाद परिवेष्टित मनःस्थिति में भी उसका अपने ऊपर अद्‌भुत् विश्वास था। इस प्रकार उसमें **अहं** और **मोह** दोनों जाग्रत हो गये। उसे **अहं** था, कि मैं गाण्डीवधारी अर्जुन सबको मार तो दूँगा ही, लेकिन अपने सम्बन्धियों और गुरुजनों के मरने की स्थिति की परिकल्पना कर उसमें **ममत्व** जाग्रत हो गया। अपने गाण्डीव को उसने हटा कर रख दिया। वह गाण्डीव, जिस पर उसे अभिमान था और शस्त्र-विद्या में अपने गुरु का पूर्ण आशीर्वाद भी था। **अपनी समस्त शक्तियों को एक ओर रखकर शोक संविग्न मोहग्रस्त मानसिक स्थिति में उसने युद्ध करने से इन्कार कर दिया।**

अब श्रीकृष्ण के सामने धर्म संकट उपस्थित हो गया कि यह पहले अपना मन समर्पित कर चुका है, अब अपनी समस्त शक्तियों के अभिमान से

मोहवश हुआ, युद्ध करना ही नहीं चाह रहा। अर्जुन में पहली विकृति **'अभिमान'** थी, जिससे दूसरी विकृति **'मोह'** जाग्रत हो गई। **दोनों विकृतियों ने मिलकर अर्जुन की राज्य-प्राप्ति की 'आसक्ति' का समूल नाश कर दिया।** उसे युद्ध एवं राज्य से **अनासक्ति** हो गई। अर्जुन ने विचार किया, कि मैं विपक्ष के समस्त महारथियों को मार तो दूँगा ही, लेकिन ये मेरे गुरुजन और सम्बन्धी हैं, इनका रक्त बहाकर मैं राज्य लेकर क्या करूँगा ! मेरे पितामह मुझे आशीर्वाद देने के लिए नहीं होंगे, मेरे सम्बन्धी नहीं होंगे, इस प्रकार मैं राज्य का क्या सुख ले पाऊँगा? विचार करें, कि युद्ध में किसी महारथी को अवसाद हो जाए और तनाव की स्थिति में वह युद्ध से उपरत हो जाए, तो शेष योद्धा मानसिक रूप से स्वस्थ होकर उसके युद्धरत होने के लिए प्रतीक्षा क्यों करते रहे होंगे? अर्जुन भी तो युद्ध में एक सेनानी ही था। यदि हम इन परिस्थितियों का गम्भीरतापूर्वक मन्थन करें, तो हमें श्रीकृष्ण में ईश्वरत्व का दर्शन हो जाएगा। अर्जुन श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित था, लेकिन उसे यह ज्ञान नहीं था, कि श्रीकृष्ण, भगवान हैं। **श्रीकृष्ण भगवान हैं, 'नारायण' हैं और अर्जुन उन्हें विशेष प्रिय था। इसलिए उनके साकार 'नारायण' (श्रीकृष्ण) रूप अवतार की लीला में 'नर' मात्र अर्जुन ही था।**

गीता के उपदेश के श्रवण का एक मात्र अधिकारी भी अर्जुन ही था। गीता का एक-एक श्लोक अत्यधिक प्रभावकारी है। साथ ही श्रीकृष्ण स्वयं चाहते थे, कि अर्जुन पर अनुकूल प्रभाव हो जाए। सद्गुरु श्रीकृष्ण की समस्त कृपा अर्जुन की ओर बह रही थी। जगद्गुरु श्रीकृष्ण के श्रीमुख से निकला एक श्लोक ही पर्याप्त होता, लेकिन गीता के 700 श्लोकों में से दस अध्यायों में 414 श्लोकों में समस्त ब्रह्मविद्या, वेदों, उपनिषदों का संघनित सार सुनाने पर भी अर्जुन युद्ध के लिए तत्पर नहीं हुआ। मानों उसके पल्ले एक शब्द भी नहीं पड़ा। **भगवान को चिन्ता हो गई, कि मैं इसे कैसे जगाऊँ। यह मोह-निद्रा के वशीभूत हो जड़ सा हो गया है।** भगवान श्रीकृष्ण ने युद्ध के लिए तत्पर होने के लिए अर्जुन को उसके तथाकथित

सम्बन्धियों के विरूद्ध भड़काया नहीं, बल्कि उसके आनन्दमय आत्म-स्वरूप की स्मृति कराने के लिए अध्यात्म का सार युद्धभूमि में गीतोपदेश के रूप में दिया। **श्रीकृष्ण जानते थे, कि अर्जुन ही युद्ध जीतेगा और दुर्योधन जिसने उनकी सेना ली है, वह हारेगा। अर्जुन भी यह जानता था, कि श्रीकृष्ण की शक्ति इनके शस्त्रों अथवा सेना में नहीं है, बल्कि स्वयं कृष्ण में है।** कृष्ण चाहते थे, कि तुरन्त उनके उपदेश का अनुकूल प्रभाव हो जाए और अर्जुन युद्ध करने के लिए तत्पर हो जाए। जब युद्ध करना और जीत कर राज्य प्राप्त करना अर्जुन का मुद्दा नहीं रहा, तो वह श्रीकृष्ण द्वारा दिए गए ब्रह्मज्ञान को श्रवण करते हुए भी अपने सम्बन्धियों के मोह के कारण आत्मसात् नहीं कर पा रहा था। जब लक्ष्य ही नहीं रहा, तो **उसने अपना गाण्डीव त्याग दिया। लेकिन कृष्ण के प्रति उसका विश्वास नहीं डिगा। वह कृष्ण के उपदेश सुनता रहा।**

अब श्रीकृष्ण के लिए अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करना लक्ष्य बन गया। श्रीकृष्ण जानते थे, कि युद्ध तो होना ही है और यह युद्ध करने से इन्कार कर रहा है, इसलिए मेरी बातों को गम्भीरता से नहीं सुन रहा है। **जब भगवान को यह पता चलता है, कि भक्त उससे कुछ नहीं चाहता तो वह भक्त, भगवान की दुर्बलता बन जाता है। ऐसा भक्त दुर्लभ हो जाता है।** भगवान में भक्त को पूर्ण विश्वास है और वह भगवान से संसार की कोई वस्तु नहीं चाहता, तो वह **भक्त दुर्बल** नहीं रहता, **बल्कि दुर्लभ** हो जाता है। **जब हम भगवान की आराधना, पूजा उनके प्रति समर्पण किसी सांसारिक प्राप्ति के लिए करते हैं और वह प्राप्ति यदि हमारा मुद्दा न रहे तथा भगवान में अटल विश्वास के साथ मात्र उनके सान्निध्य की इच्छा रह जाए, तो हमारी यह दुर्बलता हमें दुर्लभ बना देती है। दिव्य-दृष्टि के लिए इस मानसिक स्थिति में प्रविष्टि अनिवार्य है।**

अर्जुन युद्ध में अपना गाण्डीव छोड़ बैठा और उसने जीत का मुद्दा त्याग दिया, तो उसमें मात्र कृष्ण में विश्वास ही शेष रह गया। उसमें अपने कृत्यों का अभिमान समाप्त हो गया, लेकिन मोह जाग्रत हो गया। **इस मोह**

ने उसे राज्य व युद्ध के प्रति अनासक्त कर दिया। अर्जुन सोचने लगा, कि अपने पितामह एवं गुरुजनों, जिनके आशीर्वाद से ही मैं युद्ध कलाओं में पारंगत हुआ हूँ, उन्हें ही मैं मार दूँगा। इनकी तो मैं नित्य पूजा-अर्चना करता था, अब मैं इन्हें मारूँगा, इस भाव के आते ही उसने अपना गाण्डीव छोड़ दिया। श्रीकृष्ण जान चुके थे, कि जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिए यह मुझे अपने साथ लाया है, वह राज्य अब यह चाहता ही नहीं है। अब अर्जुन को देह व देह पर आधारित जगत के मोह से निकालने का उत्तरदायित्व भगवान पर आ गया। इसलिए दस अध्यायों तक लगभग दो तिहाई गीता सुनाने के बाद भी जब अर्जुन ने युद्ध के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई, तो श्रीकृष्ण ने उसे दिव्य-दृष्टि देते हुए ग्यारहवें अध्याय में अपना विराट स्वरूप दिखाया।

यह दिव्य अधिनियम है कि जब भक्त सांसारिक वस्तुओं, प्राप्तियों तथा इनसे सम्बन्धित विधाओं की इच्छाओं से मुक्त हो जाता है और मात्र भगवान के सान्निध्य का इच्छुक होता है, तो वह दुर्बल नहीं रहता, बल्कि दुर्लभ हो जाता है। ऐसा विरला भक्त, भगवान की दुबर्लता बन जाता है, उसे किसी भी प्रकार से प्रभु अपना स्वरूप दिखाते हैं। भक्त (नर) और भगवान (नारायण) के बीच के इन रहस्यों को सूक्ष्म रूप से प्रकट करते हुए भगवान ने गीता के अन्त में अर्जुन से केवल एक अपनी शरण में आने का उपदेश दिया :–

''सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज,
अहं त्वां सर्व पापेभ्योः मोक्षिष्यामि मा शुचः।''

मोहग्रसित होते हुए भी समर्पित होने के कारण अर्जुन भगवान के श्रीमुख से आधी से अधिक गीता के श्रवण मात्र से दिव्य-दृष्टि पाने का अधिकारी हो गया। समस्त अभिमान एवं आसक्तियों को वह पहले ही त्याग चुका था। **दिव्य-दृष्टि प्राप्त कर श्रीकृष्ण में भगवान की भगवत्ता एवं समस्त ईश्वरत्व का विराट दर्शन करने से उसका समस्त मोह भी जाता रहा।** भगवान के उस विराट स्वरूप में उसने दिव्य चक्षुओं से प्रत्यक्ष देखा, कि जिन्हें मारने और जिनके मरने की बात सोच कर मैं मोह ग्रसित हो रहा

हूँ, वे तो भगवान द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। प्रभु समस्त लीला का अंकन कर चुके हैं। इसलिए उसने स्पष्ट कहा, कि:—

''नष्टोः मोहः स्मृतिर्लब्धः त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव।''

उसे अपने जीवात्मा स्वरूप की स्मृति आ गई, कि वह अर्जुन देह धारी होते हुए भी जीव अर्जुन नहीं है, बल्कि जीवात्मा है। वह नर (अर्जुन) है, जो नारायण (श्रीकृष्ण) की रची समस्त सृष्टि का दृष्टा होने के साथ-साथ साकार रूप में उनका लीला सहचर भी है। गीता का अन्तिम श्लोक यही है:—

''यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः,
तत्र श्रीर्विजयोः भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।''

जिन स्थितियों में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने ईश्वरत्व का दर्शन कराया, वास्तव में समस्त गीता का सार उन स्थितियों में छिपा हुआ है। **आसक्ति ही अशक्ति अथवा दुर्बलता है और विरक्ति शक्ति और दुर्लभता है।** पूर्ण विरक्ति में संसार की किसी वस्तु, परिस्थिति, पदार्थ, प्राणी अथवा इनसे सम्बन्धित किसी भी विधा की इच्छा नहीं रह जाती इसलिए ऐसा भक्त भगवान की दुर्बलता बना हुआ दुर्लभ हो जाता है। **काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार को हमारे कतिपय मनीषियों ने विकार कहा है, परन्तु इष्ट-कृपा से हमने इन्हें दिव्य उत्प्रेरकों की संज्ञा दी है।**

अर्जुन श्रीकृष्ण पर पूर्ण विश्वास करके मात्र उनके सान्निध्य का इच्छुक है, साथ ही अपने स्वजनों एवं गुरुजनों के प्रति मोह भी है। उसके तथाकथित विकार **'मोह'** ने युद्ध जीत कर राज्य प्राप्ति की समस्त **आसक्ति** को **अनासक्ति** में रूपान्तरित कर दिया। एक व्यक्ति मोह के कारण सांसारिक वस्तुएँ चाहता है, दूसरा मोह के कारण ही भौतिक प्राप्तियाँ त्यागना चाहता है। **अर्जुन ने मोहवश गाण्डीव का अभिमान तथा राज्य-प्राप्ति की इच्छा दोनों का त्याग कर दिया। वहाँ उसका मोह ही उसकी अनासक्ति का कारण बना।** मूलतः अर्जुन को दिव्य-दृष्टि, इस तथाकथित विकार से मिली। यहाँ उसका यह मोह रूपी तथाकथित विकार

ही उसकी विरक्ति का उत्प्रेरक बना। **जहाँ मोह ने राज्य से अनासक्ति पैदा की, वहाँ से वह देहासक्ति के मोह के कारण दुर्बल होता हुआ भी दुर्लभ बन गया।** प्रभु को उसे अपने दिव्य स्वरूप का दर्शन देना पड़ा। भगवान ने अर्जुन के मोह को नष्ट कर दिया और अपनी भगवत्ता का स्वरूप दिखाया।

साधारणतः संसारी लोगों में अपने किसी प्रिय स्वजन की मृत्यु पर मोहवश अस्थाई सा वैराग जाग्रत हो जाता है, कि अब मेरी पत्नी नहीं रही, मैंने धन, दुकान आदि क्या करना है। यहाँ मोह अस्थाई अनासक्ति बनता है। अनासक्ति के **'विरक्ति'** में रूपान्तरित होने के लिए ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से **'सद्'** का साथ होना परमावश्यक है। आसक्ति का नष्ट होना अनासक्ति है, लेकिन **'विरक्ति'** नहीं है। **'विरक्ति'** के लिए **'सद्'** के प्रति पूर्ण समर्पण अपेक्षित है। **विकृतियों के नेपथ्य में भक्त की नीयत अन्तर्यामी प्रभु देख लेते हैं।** इसलिए अर्जुन का मोह दिव्य-दृष्टि की प्राप्ति की पात्रता बन गया। **यहाँ उसका मोह विकार न होकर दिव्य उत्प्रेरक बन गया।** आसक्तियों को अनासक्तियों में रूपान्तरित करने के लिए **सद्** के प्रति पूर्ण समर्पण आवश्यक है तब काम, क्रोध आदि पाँचों तथाकथित विकार ही सुकृतियाँ बन जाते हैं। विकारों की दुर्बलताएँ ही प्रभु-कृपा से उस भक्त को दुर्लभ बना देती हैं, बशर्ते वे प्रभु-कृपा से नष्ट हो जाएँ। घोर विकृतियाँ जब अनासक्ति बन जाएँ, तो प्रभु-कृपा से वे अवश्य ही विरक्ति में रूपान्तरित हो जाती हैं।

देहासक्ति या मोह विकृति है, लेकिन यह मोह दोमुँही तलवार है। मोह सांसारिक आसक्तियों एवं अहंकार का कारण भी बनता है और मोह अनासक्ति का कारण भी बनता है। जहाँ मोह अनासक्ति का कारण बना, वहाँ भगवान ने **'सद्-दर्शन'** देते हुए उसे समूल नष्ट कर दिया। भक्त भगवान के शरणागत होकर पूर्णतः समर्पित हो जाते हैं, लेकिन अपने जप-तप, साधना, उपासना, ध्यान, चिन्तन-मनन, देह के सम्बन्धों, बल-बुद्धि-विद्या, समर्थ एवं शक्ति आदि का जब तक लेश मात्र भी अभिमान

रहता है तब तक सद्गुरु अथवा प्रभु का दर्शन पाने के अधिकारी नहीं होते। **जब तक हमारी श्रद्धा, विश्वास के पीछे कारण कोई न कोई भौतिक प्राप्ति अथवा कुछ भी रहता है, तब तक हमारी नीयत सही नहीं होती। यह नीयत ही नियति बनती है।**

सद्गुरु दर्शन के लिए दैवीय आवश्यकताएँ जब दिव्यता (श्रीकृष्ण) द्वारा ही पुष्ट एवं प्रमाणित हो गईं, तभी अर्जुन को दिव्य-दृष्टि मिली और वह भगवान के विराट स्वरूप के दिग्दर्शन का अधिकारी हुआ। भगवान ने विराट स्वरूप में उसे दिखा दिया, कि जो तू करने जा रहा है, वह **'मैं'** (ईश्वर) कर चुका हूँ, वह तेरे द्वारा हो रहा है। जो होना है, वह हो चुका है। जब कोई महापुरुष, सद्गुरु अपनी वाणी से कुछ कहता है, तो उसकी वाणी का निश्चित प्रभाव होता ही है। जब सिद्ध पुरुषों के मुख से ब्रह्मसूत्र निकलते हैं, तो चाहे श्रोता एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल दे अथवा विशेष अवसादमयी मनःस्थिति में वे शब्दों का अधिग्रहण न कर पाएँ, लेकिन वहाँ एक घटना हो जाती है, कि **ये शब्द उनकी चेतना में कहीं न कहीं चिपक जाते हैं। समय आने पर उनका अहं गलित हो जाता है।** किसी बर्तन में शहद भरा और उसे उलटा भी कर दिया जाए, तो भी बर्तन की दीवारों में कुछ न कुछ शहद चिपका रहता है। इसी प्रकार गीता के प्रथम दस अध्यायों के श्रवण में अर्जुन के पल्ले कुछ नहीं पड़ा, लेकिन मन समर्पित कर चुका था, इसलिए उसे दिव्य-दृष्टि मिल गई। भगवान के दर्शन के लिए साधक को अपनी अहंता और मोह दोनों का भी पूर्णतः समर्पण करना आवश्यक है। **'न कुछ किया, न कर सका, न कुछ करने योग्य;' सद्गुरु के दर्शन से पहले यह भाव विशेष आवश्यक है।**

कर्म के त्याग के बाद पता चलता है, कि मानव का कर्म क्या है? क्योंकि फिर भगवान कर्म कराते हैं। भगवान का दर्शन होने के बाद अर्जुन को समस्त ज्ञान अनुभूति में आ गया। भगवान के विराट स्वरूप में अर्जुन ने देखा, कि जिन्हें मैं मारना चाहता हूँ, वे तो पहले ही मरे पड़े हैं। उसे ज्ञान हो गया, कि सम्पूर्ण युद्ध भगवान श्रीकृष्ण की लीला है, जिसका अंकन वे कर

चुके हैं। उस दर्शन से वह आश्वस्त हो गया, कि **जो वह कर रहा है, वह करवाया जा रहा है और जो करवाया जा रहा है, वह हो रहा है तथा जो भी हो रहा है, वह हो चुका है।** वहाँ उसमें निमित्तता का भाव भी नहीं रहा। यहाँ प्रभु की असीम कृपा से उसकी विकृति (विकरति) ही विरक्ति (विरकति) बन गई। विकृति में छुपा **'कर' अब विरक्ति में छुपा** 'रक' बन गया। मात्र इस छोटे से आध्यात्मिक आपरेशन (कर से रक) से सम्पूर्ण दृश्य बदल गया। यही प्रभु की 'कृपा' का स्पष्ट **'दर्शन'** है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(25 फरवरी से 8 मार्च, 2007)

हुए-हुए का हौव्वा

हमारा सम्पूर्ण जीवन होश सम्भालने से लेकर, होश में और होश गुम होने तक चलता है। **एक दिन के जीवन के प्रारूप को** समस्त जीवन का प्रतीक मानकर कुल जीवन की इकाई के रूप में लें (Let us take one day as the embodyment of total life). सुबह हम सो कर उठते हैं, तो मानों हम होश में आते हैं। हम सभी देखते हैं, कि जब कभी हम अत्यधिक गहरी नींद से उठते हैं, तो हमें स्वयं को पहचानने अथवा होश में आने में कुछ समय लग जाता है, कि मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ? कई बार नींद खुलते ही हम होश में आ जाते हैं। जब मैं स्वयं को देह के नाम-रूप की अवचेतना में पहचानता हूँ, तो भौतिक दृष्टि से इसे **होश में आना** कहा जाता है। हमने होश सम्भालते ही होश का दुरूपयोग किया और अपने दिन का **'अर्थ'** स्वयं अपने हिसाब से लगाते हुए कार्यक्रम बनाने शुरु कर दिए, कि आज मुझे यहाँ जाना है, उससे मिलना है, अमुक कार्य मैं आज अवश्य करूँगा आदि। बस यहीं से हम कर-कराहट (कर, कर, कर) क्रिएट (Create) कर देते हैं। वह हमारे उस दिन का **शुभारम्भ** नहीं **क्रूरारम्भ** होता है। कर-कर से क्रिएट हुई करकराहट के कारण दिन का क्रूरारम्भ होगा और दिन भर जो होए-हवाएगा, रात्रि में निद्रा से पहले **हौव्वा** बनकर हमारी निद्रा में बहुत बड़ा व्यवधान बन जाएगा। जिस दिन का आरम्भ 'क्रूर' और अन्त हौव्वा है, उसका मध्य भी **'क्रूर', ज़रूर** होगा। दिन के अन्त में हम चाहेंगे नींद आए, लेकिन नींद नहीं आएगी और इसी प्रकार दिन बिताते-बिताते हमारे न चाहते हुए भी जीवन का अन्त **'मृत्यु'** में हो जाएगा।

हमारी देह हमारे लिए तब से होती है, जब हम स्वयं को नाम-रूप की देह के साथ पहचानते हैं। नाम-रूप में स्वयं को पहचानना **मनःस्थिति** है और उसकी एक **मानसिकता** है। उस मानसिकता से हमारी उस समय की देह और जगत प्रकट होता है। जिस मानसिकता में देह होती है, उसी में जगत होता है। परिवार, समाज, देश, विश्व की सब प्रकार की परिस्थितियाँ हमारी मानसिकता को प्रभावित नहीं करतीं, बल्कि हमारी मानसिकता का बाह्य प्रकाट्य वे परिस्थितियाँ होती हैं।

साधारणतः नींद से उठकर होश में आते ही, यदि कोई विशेष स्थिति अथवा प्रयोजन न हो, तो हम एकदम बिस्तर नहीं छोड़ते। कुछ देर लेटे रहते हैं, फिर उठकर थोड़ी देर बिस्तर पर ही बैठे रहते हैं और फिर नीचे उतरते हैं। दिन भर के लिए कुछ योजनाएँ बनाते हैं। हमने कैरियर रूप में उस दिन का सोचा, कि आज क्या करना है? आज बैरियर क्या-क्या हैं, इसकी चिन्ता व विचार हुआ, तदनुसार हम सारा दिन कुछ न कुछ करते हैं। कुछ पाते हैं या खोते हैं। **यह पाना और खोना हमारे करने से नहीं होता। कभी-कभी बिना कुछ किए ही बहुत कुछ पा लेते हैं और कभी बहुत कुछ करके भी नहीं पाते। हम करते कुछ हैं, पाते कुछ हैं और होता कुछ और ही है। करना, पाना, खोना और होना**—इन चार **'कुछों'** का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। हम सारे कृत्य इसलिए करते हैं, कि हर **पाने** अथवा **खोने** द्वारा हम कुछ **होना** चाहते हैं। हम उस **होने** की पहले ही कल्पना कर लेते हैं, कि ऐसा करने से यह मिल जाएगा, तो ऐसा **हो** जाएगा अथवा ऐसा करने से इस वस्तु से पीछा छूट जाएगा, तो सुखी **हो** जाऊँगा। हमारे अन्तर्मन में अज्ञात भाव इस **'होने'** का होता है। यह होना मात्र हमारी कल्पना होती है, जिसका प्राप्ति के बाद वास्तविक **होने** से दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता।

सर्वप्रथम, किसी प्राप्ति अथवा खोने का हमारे करने से कोई सम्बन्ध नहीं होता और अन्ततः जो होता है, उसकी हमने कल्पना ही नहीं की होती। जहाँ पर भी **'कर'** लग गया, वहाँ हम आनन्द खो देते हैं। हमें **'कर'** (Tax) देना

ही पड़ता है। कर कर, पा कर, खो कर, हो कर, सबमें **'कर'** लगा है। रात को हम इस **'कर-कर'** से तंग आकर, थककर, टूट कर, बोर हो कर उसी बिस्तर पर लेटते हैं, जिस पर से सुबह उठे थे। बिस्तर पर लेटते ही एकदम नींद नहीं आती। जैसेकि हम सुबह नींद खुलने पर होश में आने पर कुछ देर लेटे रहते हैं, फिर बैठे रहते हैं, फिर बिस्तर छोड़ते हैं। उसी प्रकार रात्रि में बिस्तर पर बैठते हैं, कुछ देर कोई पुस्तक आदि पढ़ते हैं या टीवी देखते हैं। फिर यदि नींद आती है, तो सो जाते हैं, नहीं तो लेटे-लेटे विभिन्न भावों व विचारों में डूबे हुए निद्रा की प्रतीक्षा करते हैं। **जो उठने का प्रकरण है, वही सोने का है।**

सम्पूर्ण दिवस में सबसे महत्त्वपूर्ण सोने के समय की मानसिक स्थिति है। दिनभर बहुत कुछ होता है, तो उस सारे **हुए-हुए** का समग्र प्रभाव **एक होने के रूप में** हमारे मानस पर चिपका रहता है। सारा दिन **जो हो-हवा गया** वह **हौव्वा सा** बना हुआ हमारी निद्रा में बाधा डालता है। दिन के अन्त में बिस्तर पर लेट कर हम निष्क्रिय होकर सोना चाहते हैं। आगे नींद खड़ी होती है, जिसकी हम प्रतीक्षा करते हैं, कि हे प्रभु ! मुझे नींद आ जाए। सोने के बाद कुछ भी हमारे साथ नहीं रहता, यह सब जानते हैं। **उस समय जो हमारी मानसिकता होती है, वह हमारी निद्रा की गुणात्मकता का आधार होती है।** दिनभर जो कुछ भी हुआ है, उस हुए-हुए का हुआ—हमारी मानसिकता को प्रभावित न करे, सब कुछ आनन्दमय हो। हम आनन्द में सो जाएँ, फिर सुबह आनन्द में उठें, यह आवश्यक है। लेकिन जो नहीं हुआ, उसकी **आसक्ति** और जो हमारे प्रतिकूल हुआ, उसकी **अभिव्यक्ति** रात्रि में सोते समय हमारे साथ रहती ही है और इन्हीं दोनों को लेकर अगले दिन हम उठते हैं।

जीवन का अन्त भी एक दिन होना ही है। जीवन के अन्त में **'निद्रा'** के समान ही **'मृत्यु'** खड़ी होती है, लेकिन उसे हम **दूर** रखना चाहते हैं, कि हे प्रभु ! अभी मृत्यु न आए। मैंने यह कार्य पूरा नहीं किया। मेरे बाद मेरे धन-सम्पदा अथवा परिवार का क्या होगा? जो कहते हैं, कि हे प्रभु ! मुझे

मौत आ जाए, वह भी इस **'हौव्वे'** की वजह से कहते हैं। जैसे दिन भर हुए-हुए का हौव्वा निद्रा के समय होता है, उसी प्रकार मृत्यु के समय **जीवन भर हुए-हुए का भी हौव्वा होता है।** उससे हम तंग आ जाते हैं। लेकिन जैसे चाहने से नींद नहीं आती, उसी प्रकार किसी के चाहने से मृत्यु भी नहीं आती।

यह **'हुए-हुए का हौव्वा'** क्या है? The most predominent happening striking on our nerves is **'हौव्वा'। उदाहरणतः –हमारे दो बच्चे हैं। एक बहुत अच्छे नम्बर लेकर परीक्षा में पास** हुआ और दूसरा बुरी तरह **फेल हुआ।** दिन में इस हुए-हुए का जो हुआ, वह हौव्वा बनकर रात को हमारी निद्रा को प्रभावित करता है। जो बच्चा फेल हो गया, उसका क्या होगा? उसके लिए क्या किया जाए? जो बहुत अच्छे नम्बर लेकर पास हुआ, उसका कैरियर किस प्रकार बेहतर से बेहतर बनाया जाए। उसकी प्रतिभाओं का तथाकथित सदुपयोग कैसे हो? दिन में हज़ार लोगों ने हमारा सम्मान किया, लेकिन एक ने अपमान कर दिया। इसी प्रकार लाभ **हुआ**-हानि **हुई,** उन्नति **हुई**-अवनति **हुई,** तो दिन भर जो कुछ होता-हवाता है, वह हौव्वा बनकर हमारे मानस से चिपका रहता है। उसे लेकर हम बिस्तर पर लेटते हैं और वही हमारी निद्रा की गुणात्मकता का निर्धारण करता है।

यह **'हौव्वा'** साधारणतः दो मनोवैज्ञानिक तथ्यों को लिए रहता है। (It is the union and combination of two factors) These two factors are of different quality, different intensity, projectivity, receptivity and acceptability. **एक,** यह होना मेरी आशा से परे (Unexpected) होता है, **दूसरे,** उस होने का हम स्वयं को कारण मान लेते हैं अथवा अपने में उसका कारण मान लेते हैं। इन दोनों तथ्यों के मिलने से दिन भर जो कुछ भी हुआ है, उस हुए-हुए का रात को सोते समय हौव्वा बन जाता है। वह नींद को तनावित कर देता है। कभी मैं करवटें बदलता रहता हूँ, कभी विभिन्न स्वप्नों में विचरता हूँ, कभी उठ-उठकर, बार-बार पानी पीता हूँ, कभी बाथरूम

जाता हूँ, आदि-आदि। इस अशान्त निद्रा का वर्णन नहीं किया जा सकता, यह मात्र अनुभूति का विषय है।

समस्त जीवन में इसी प्रकार हम बहुत कुछ करते हैं। हमने बहुत कुछ खोया, बहुत कुछ पाया और बहुत कुछ हुआ। **जीवन के अन्त में जब मृत्यु समक्ष होती है, तो इस हुए-हुए का हौव्वा चैन से मरने नहीं देता।** मृत्यु के समय हम कुछ कर सकने की स्थिति में नहीं होते, लेकिन मरना नहीं चाहते, अपितु और करना चाहते हैं। रात को सोने के समय थकावट के कारण हम कुछ करना नहीं चाहते तथा निद्रा के आने की प्रतीक्षा करते हैं। एक Intentional निष्क्रियता (निद्रा) है, दूसरी Compulsive निष्क्रियता (मृत्यु) है। मृत्यु के समय हम कुछ करना चाहें भी, तो नहीं कर सकते और निद्रा के समय जानबूझ कर हम कुछ करना नहीं चाहते। दोनों में **हौव्वा** एक चिन्ता खड़ी कर देता है।

चिन्ता हमेशा भविष्य की होती है। **निद्रा** और **मृत्यु** दोनों में भविष्य की चिन्ता होती है। मृत्यु के समय चिन्ता यह होती है, कि मेरे मरने के बाद क्या होगा? मैं नहीं रहूँगा, लेकिन कुछ होगा अवश्य। उस होने में हमारी लिप्तता बिल्कुल नहीं रहनी चाहिए, क्योंकि हम रहेंगे ही नहीं। परन्तु मृत्यु के समय हम **मरने के बाद** तथाकथित अपनी धन-सम्पदा, सन्तान आदि के विषय में चिन्तित होते हैं–This is called uninvolved involvement. हम जानते हैं, कि मरने के बाद जो कुछ भी होगा, उसमें हमारी भौतिक लिप्तता बिल्कुल नहीं होगी, मैं कुछ कर नहीं पाऊँगा क्योंकि **'मैं'** मर जाऊँगा। लेकिन फिर भी मृत्यु के समय की ये चिन्ताएँ व लिप्तताएँ बहुत भयंकर होती हैं–These involvements are more serious, pinching and full of gravity. **सोते समय** यह चिन्ता रहती है, कि **आगे** कल क्या होगा? **मृत्यु** के समय यह चिन्ता रहती है, कि मेरे न होने के बाद **पीछे** क्या होगा? निद्रा के समय व्यक्ति निद्रा को बुलाना चाहता है और मृत्यु के समय व्यक्ति मौत को टालना चाहता है, कि कुछ समय मिल जाए, तो वह अधूरा कार्य पूरा कर सके। **निद्रा में आगे का भविष्य चिन्ता का विषय है। मृत्यु के समय अपने**

पीछे का भविष्य चिन्तित रखता है–What would happen after me. यह अतीत-भविष्य है। जब मैं **'था, थे, थी'** हो जाऊँगा, तो **'गा, गे, गी'** क्या होगा? हौव्वा दोनों में होता है। निद्रा के समय Involved involvement होती है और मृत्यु के समय uninvolved involvement चिन्ता का विषय बनती है। **मृत्यु के समय व्यक्ति यह भूल जाता है, कि अगर मैं नहीं होऊँगा, तो कुछ भी नहीं रहेगा।** सारा संसार एक मेरे नाम-रूप की अवचेतना में प्रकट होता है। नाम-रूप की अवचेतना न रहने पर देह रूप में **'मैं'** और जगत दोनों नहीं रहते। निद्रा के समय कदाचित् इसीलिए सब कुछ भुला कर हम सोना चाहते हैं।

हमने पहले बताया था, कि यह हौव्वा दो तथ्यों के मिलने से बनता है–**एक, जो हुआ उसकी हमने आशा ही नहीं की थी और दूसरे, उस होने का कारण हम स्वयं को मान लेते हैं। मैं ऐसा न करता तो यह न होता तथा अप्रत्यक्ष रूप से मेरे किसी अन्य कारण से यह घटना हो गई।** यह हौव्वा निश्चित रूप से हमारी निद्रा और मृत्यु दोनों को प्रभावित करता है। हमें यदि इस हौव्वे ने सोने न दिया, तो हम असफल व्यक्ति हैं। दिन भर जो कुछ हुआ उसने मेरी रात्रि की नींद तनावित कर दी। मैं उसी बिस्तर पर करवटें बदलता रहा, जिससे सुबह बड़ी खुशी-खुशी कुछ करने, खोने-पाने और होने के लिए उठा था। **रात्रि के इस हौव्वे की भूमिका सुबह के समय उसी बिस्तर पर बनती है।** हमारी योजनाएँ अन्ततः रात्रि को हमें किस निद्रा में ले जाएँगी, हम नहीं जानते। कइयों को बिना नशा किए अथवा बिना नींद की गोलियाँ खाए निद्रा आती ही नहीं।

जिस मानसिकता को लेकर प्रातःकाल हम उठे हैं, उसी मानसिकता में हमारा समस्त दिवस चलेगा और उसी में हम सोएँगे। हमें इसका ज्ञान नहीं होता। दिन भर हम कभी बहुत प्रसन्न हो जाते हैं, कभी बुझ जाते हैं। हमारे सोने के बाद दिन भर न कुछ पाया हुआ साथ जाना है, न खोया हुआ जाना है। लेकिन दिन में जो कुछ हुआ-हवाया है उसका समन्वित सा प्रभाव हमारी मानसिकता पर अंकित अवश्य होगा। **हुए-हुए को आनन्दमय करने**

के लिए दुआ और प्रार्थना ही एकमात्र साधन है। एक ऐसी दुआ, जो सद् एवं अकाट्य है। रात्रि के इस हौव्वे को यदि पूर्णतः समाप्त करना है, तो सुबह बिस्तर से उठने पर ही करना होगा। दिन भर करने-कराने, पाने-खोने और कुछ होने से पहले सुबह ही इसे निर्मूल करना होगा।

हम दिन का क्रूरारम्भ नहीं, शुभारम्भ करें। देव-दरबार में दीपक जलाकर प्रभु के समक्ष उस दिन की देह और उस दिन का **'अर्थ'** समर्पित करें। **'मैं'** जीवात्मा हूँ, प्रभु ने मुझे जो मानव-देह दी है वह **मेरी आशा से परे है।** प्रभु मुझे जलचरों, थलचरों या नभचरों में से किसी भी प्राणी के रूप में धरती पर उतार सकता था। असंख्य जीव-जन्तुओं व प्राणी जगत में मुझे उसने मानव-देह दी, यह मुझ पर उसकी **अकारण कृपा** ही है। **इसका मूल कारण न मैं स्वयं हूँ और न मुझमें इसका कोई कारण है।** प्रभु की विशिष्टतम, परम उत्कृष्ट एवं चमत्कारिक रचना, यह मानव-देह मुझे स्वतः भाव से **अकारण** ही मिली है, जिसकी मुझे बिल्कुल आशा नहीं थी। इन दोनों बातों को सुबह बिस्तर से उठते ही मुझे पूर्णतः **जानना होगा** और **मानना होगा।** रात्रि में समस्त दिवस के हुए-हवाए का हौव्वा मिटाने के लिए मुझे सुबह उठते ही अपनी उत्कृष्टतम् बुद्धि की उच्चतम सीमाओं से इन दोनों बातों के विषय में आश्वस्त हो जाना होगा तथा मन से मान लेना होगा।

हम कहीं स्वयं जाते हैं, तो जाने में हमारा अपना अर्थ होता है। यदि हम किसी के द्वारा भेजे जा रहे हैं, तो आपको कहीं भेजने में, भेजे जाने वाले का **'अर्थ'** होता है। हम संसार में स्वयं नहीं आए हैं, बल्कि लाए गये हैं। हमें मानव-देह देकर प्रभु द्वारा पृथ्वी पर भेजा गया है। जब हम मानव-देह दी जाने का कारण नहीं जानते, तो इसका मतलब है, कि हम इसका **'अर्थ'** नहीं जानते। लेकिन प्रभु का हमें मानव-देह देने का मेरे लिए विशेष **'अर्थ'** अवश्य है, जो हम नहीं जानते। **मानव-देह पाने की मुझे आशा नहीं थी और मैं इसका कारण नहीं हूँ, इसलिए मैं इसका 'अर्थ' बिल्कुल भी नहीं जानता।** इतनी बात से पूर्णतः आश्वस्त (जानने और मानने) होने के बाद

बिस्तर से नीचे उतरें। यदि हम अर्थ जानकर और स्वयं को कारण मानते हुए बिस्तर से नीचे उतरेंगे, कि आज मैंने यह-यह करना है, मेरी अमुक-अमुक इच्छा है, तो रात को बिस्तर पर निद्रा के समय हौव्वा अवश्य बनेगा, नित्य ऐसा होगा। समस्त जीवन में हम कुछ भी पा लें, कुछ भी हो जाएं, हम हौव्वा लेकर ही मरेंगे। हमारी दुर्गति होगी।

सुबह निद्रा से उठते ही यदि हम अपनी मानव-देह को अपनी **आशा से परे मान लेंगे,** तो दिन में जो भी होगा, उसमें कुछ भी हमारी **आशा से परे नहीं होगा।** इसलिए हौव्वा नहीं बनेगा, हौव्वा बनने में प्रथम तथ्य यही था, कि दिन में हुए-हवाए का जो हुआ, वह हमारी आशा से परे था। जब अपनी मानव-देह को ही हम आशा से परे मान लेंगे, तो सब कुछ होना हमें आशा में ही लगेगा–If you are fully convinced that you got human body unexpectedly then nothing will be unexpected for you and there will be no हौव्वा। साथ ही मानव-देह प्राप्त करने का कारण न तो मैं हूँ और न मुझ में ऐसा कोई कारण है, यह मात्र प्रभु की मुझ पर अकारण कृपा से सम्भव हुआ है। यदि इसे मैं अच्छी तरह से जान लूँ और मान लूँ, तो दिन भर जो कुछ होगा, उसका, स्वयं को मैं कारण मानूँगा ही नहीं। हम किसी खोने, पाने अथवा होने के कारण स्वयं में नहीं बनेंगे। दिन भर जो कुछ होता-हवाता है, उसके रात्रि में हौव्वा बनने में ये दो ही तथ्य प्रमुख थे। जब सुबह उठते ही हम मानव-देह को अपनी आशा से परे की प्राप्ति मानकर, स्वयं को कारण नहीं मानेंगे, तो देह मिलने में उस दिन का **'अर्थ'** हम अवश्य प्रभु के चरणों में समर्पित कर देंगे, कि प्रभु ! मैं इसका अर्थ नहीं जानता। इसे कहते हैं–**'अर्थार्पण'।**

परम पिता परमात्मा ठोस घन शिला है, वह स्वयं में सौन्दर्यवान, ज्ञानवान, शक्तिवान, ऐश्वर्यवान, ख्यातिवान एवं वैरागवान है। उसकी सर्वोत्तम रचना मानव-देह है। मानव-देह को साथ पाकर जीवात्मा जब स्वयं को नाम-रूप के साथ पहचानता है, तो परम जिज्ञासु मानव के हृदय में जिज्ञासाएँ उठती हैं। पहली, कि इस मानव-देह का अर्थ क्या है? यह देह

अवश्य स+अर्थ=सार्थ है। इसी से सार्थक व सार्थकता शब्द बने हैं। जब मानव-देह का **'अर्थ'** क्या है, यह जानना मेरे जीवन का अर्थ बन जाए, तो जीवन स+अर्थ यानि अर्थ सहित होते हुए, सार्थक हो जाता है। हम यह जान पाएँ या न जान पाएँ, यह दूसरी बात है। कम से कम इस मानव-देह व मानव-जीवन का **'अर्थ'** जानने की उत्कण्ठा हम में होनी परमावश्यक है। नहीं तो मानव-देहधारी होकर भी हम मानव-जीवन जीने के अधिकारी नहीं होंगे।

मानव-देह की सार्थकता जानने के लिए दो आवश्यकताएँ हैं–पहले तो हम तहे-रूह से आश्वस्त हो जाएँ, कि यह मानव-देह मिलना मेरे लिए आशा से परे का विषय था–It was beyond my expectation. It is a pleasant surprise. दूसरे, यह देह मुझे ईश्वर की मुझ पर अकारण कृपावश मिली है। मैं स्वयं में उसके इस अनुग्रह का कोई कारण न खोज पाऊँ–I cannot trace any traces of reasons behind this. I cannot point out any reason in me. मेरी समझ में कोई कारण न हो, जिसके कारण मुझे मानव-देह दी गई है। मैं इसका कारण नहीं हूँ और मुझमें कोई कारण नहीं है।

ये दो तथ्य हमारे दिल-दिमाग व रूह में समा जाएँ। तब हम मानव-जीवन के **'अर्थ'** में प्रविष्टि पा लेते हैं। जीवन के किसी भी काल में मानव-देह को अपने साथ पाकर जब जीव उपर्युक्त दो बातों से तहे-दिल-मन व रूह से तथा अपनी बुद्धि से पूर्णतः आश्वस्त हो जाता है, तो उसमें मानव-देह का **'अर्थ'** जानने की उत्कट जिज्ञासा जाग्रत हो जाती है। तभी जीवन के वास्तविक अर्थ का प्रस्फुटन (Erupt) होता है। यह जिज्ञासा उसके जीवन **में** विभिन्न अन्य चाहतों को समाप्त कर देती है और जीवन का लक्ष्य मात्र यही हो जाता है, कि किसी भी तरह से और सब तरह से वह मानव-देह का अर्थ जान ले। नहीं तो जीव अर्थ से निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ में अधोगति को प्राप्त करता हुआ, जन्मों-जन्मान्तरों के अन्तहीन काल-चक्र में भटकता रहता है।

'अर्थ' के सोपान पर landing के लिए यह उपर्युक्त विचारधारा आवश्यक है। मानव-देह मिली है। यह अवधि से बँधी है, हर क्षण अविरल परिवर्तनशील है, जन्म-मृत्यु से बँधी है। जन्म-मृत्यु दोनों छोरों की विभिन्न विधाओं को मैं नहीं जानता। इसका कुछ **'अर्थ'** है, जो मैं नहीं जानता। यदि मैंने अपनी बुद्धि से इसका कोई अर्थ स्वयं ही थोप लिया, तो मैं निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ के सोपानों पर अधोगति को अवश्य प्राप्त होऊँगा। हमें आश्वस्त होना आवश्यक है, कि मानव-देह का **'अर्थ'** न मैं जानता हूँ और न जान सकता हूँ। तभी **'अर्थ'** से मेरी ऊर्ध्वगति होगी। अर्थ मानव-जीवन का आधार है। अतः अपनी बुद्धि से इसके **'अर्थ'** का समर्पण आवश्यक है—अर्थ+अर्पण=अर्थार्पण। मानव देह धारण करके तथाकथित होश सम्भालते ही इसके **'अर्थ'** का प्रभु चरणों में अर्पण कर दीजिए, कि मैं इसका अर्थ न जानता हूँ और न जान सकता हूँ। **जहाँ यह अर्थार्पण हो जाएगा, वहीं दैवीय बुद्धियों का पदार्पण हो जाएगा।** मानव-देह का अर्थ केवल यह **'अर्थार्पण'** है। अर्थार्पण के लिए हममें **'विरक्ति'** की शक्ति होनी आवश्यक है।

आध्यात्मिक जगत में प्रविष्टि से पहले यह विशिष्टतम् एवं अति आवश्यक औपचारिकता है, कि हम अपनी समस्त प्रतिभाओं, सीमाओं और ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करके पूर्णतः आश्वस्त हो जाएँ, कि मानव-देह मुझे क्यों दी गई है, इसका अर्थ क्या है, यह न मैं जानता हूँ न जान सकता हूँ। तभी देह में आत्म-चिन्तन प्रारम्भ होगा। जीवन की किसी भी विधा, किसी भी समय, किसी भी स्थिति या परिस्थितियों में मानव देहधारी जीव इस मानव-देह को अपने साथ पाकर जब आश्चर्यपूर्ण मानसिक स्थिति में उपर्युक्त दोनों तथ्यों के विषय में चिन्तनशील हो जाता है, तब वह **'अर्थ'** जानने का इच्छुक होता है। मानव-देह का कोई विशेष अर्थ अवश्य है। **यह सार्थ है, लेकिन मैं नहीं जानता और अपनी बुद्धि की उत्कृष्टतम् सीमाओं से जान भी नहीं सकता।** इसीमें मेरी मानवीय बुद्धि की सार्थकता है। तभी इस चिन्तन में मेरी विचारधारा चलेगी, कि **'मैं'** कौन

हूँ? मेरे लिए मानव-देह की उचिततम् उपयोगिता क्या है? **'मैं'** (जीवात्मा) समष्टिगत तत्त्व है। मुझे दी गई एक मानव-देह समस्त समष्टि का आधार है। इस देह से मुझे अपनी समष्टिगत स्वरूप को पहचानना है। If you want to land into totality, maintain and develop your highest individuality. यदि आप समष्टि में प्रविष्टि चाहते हैं, तो पहले आप अपनी व्यष्टि में दृढ़ हो जाएँ।

मुझे मानव-देह मिली है, यह मेरी आशा और मेरे किसी भी कारण से परे है। इसका कारण न मैं हूँ और न मुझमें इसका कोई कारण है। इसका विशेष अर्थ है। इसकी सार्थकता है, जो मैं बिल्कुल नहीं जानता, अतः मैं इसका **'अर्थार्पण'** करता हूँ। **वहाँ से स्वतः तुरन्त उसी समय दिव्यता का पदार्पण होना प्रारम्भ हो जाएगा।** फिर हमें कुछ नहीं करना, दैवीय शक्तियाँ हमारे जीवन का संचालन अपने हाथों में ले लेंगी। वहाँ से दिव्यता की कृपा से अर्थ, धर्म, काम व मोक्ष के सोपानों पर ऊर्ध्वगति होगी। दैवीय शक्तियों की कृपा से हम सीधे मोक्ष पर भी पहुँच सकते हैं।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(8 मई से 12 मई 2007)

''भस्मार्थ''

जीवन में करना-पाना-खोना-होना, जो कुछ भी दृश्यमान होता है, वह प्रारब्धवश स्वतः होता है। इसके लिए हमें अपनी ओर से योजनाएँ बनाने अथवा चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। प्रारब्धवश ही हमारा जन्म विशेष माता-पिता के अंश से, विशिष्ट ग्रह-नक्षत्र में, विशेष स्थान, देश-काल व परिस्थिति में हुआ। भाई-बहनों में हमारा विशेष नम्बर पर जन्म, आस-पड़ौस, स्कूल, वहाँ के संगी-साथी, आर्थिक स्तर, डिग्रियाँ, पोस्ट, विवाह-शादी, बच्चे, हमारी मृत्यु का कारण व स्थान, विशिष्ट लोगों की उस समय उपस्थिति, दाह-संस्कार और भस्मी का विसर्जन, सब कुछ इस **'प्रारब्ध'** नामक अदृश्य कैसेट में पहले ही अंकित रहता है। **प्रारब्ध हमारे कर्ता-भाव के कारण बनने वाली जड़-चेतन की ग्रन्थि है।** जब हम स्वयं को देह के नाम-रूप से पहचानते हैं, तो अपना विशुद्धतम् स्वरूप भूल जाते हैं और हमारे द्वारा जो स्वतः हो रहा है, उसके कर्ता बन जाते हैं।

हमारा विशुद्धतम् स्वरूप परमात्मा है, जो **स्रष्टा** है। वह समस्त कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का सृजन, पालन और संहार करता है। जीवात्मा (दृष्टा) के लिए इस सृजन, पालन और संहार का प्रकाट्य होता है। जैसे ही हमने होश सम्भाली, तो बनी-बनाई देह, घर, परिवार, देश, समाज सब कुछ हमें स्वतः मिला। न हमने अपनी देह बनाई, न माता-पिता, न घर, न स्कूल, न संगी-साथी, न पति, न पत्नी, न सन्तान, सब कुछ हमारे लिए समय-समय पर प्रकट होता रहा। देह में कहाँ-कहाँ, क्या-क्या हो रहा है, हम कुछ नहीं जानते। किस समय हमारी देह कैसे रूप-रंग में हमारे सम्मुख आएगी, न हम जानते हैं, न जान सकते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश सब

कुछ प्रकट हुआ। उस सृजनकर्ता ने जीवात्मा को Process में नहीं डाला। उसके लिए सृष्टि, निर्मित, पालित व संहारित ही समय-समय पर प्रकट हुई। लेकिन जब उसने स्वयं को देह के साथ नाम-रूप में तद्रूप कर दिया, कि मैं अमुक-अमुक हूँ, तब जीवात्मा में करने का भाव आ गया। उसने स्वयं को कर्ता मान लिया। इस भाव के आते ही उसका दिव्य ईश्वरीय मानस ही मानवीय-मानस बन गया तथा चेतन बुद्धि, अवचेतन हो गई। यह चेतना से अवचेतना में उतर आया व मानव-देह के विशिष्ट **'अर्थ'** से पतित होने लगा।

प्रारब्धवश प्रभु ने मानव-देह दी थी, जिसे देने में प्रभु का अपना कोई **'अर्थ'** नहीं था। जो अर्थ था, वह हमारे लिए था। हम **'मैं' 'मैं'** कर रहे थे, कि मैं यह करना चाहता हूँ, यह बनना चाहता हूँ, तो प्रभु ने अति कृपालु होकर मानव-देह दी, कि तू यह भी कर के देख ले। प्रारब्धवश भी सब कुछ स्वतः ही होना था। उसका समस्त समुचित प्रबन्ध ईश्वर ने किया हुआ था। हमें स्वयं उसमें भी कुछ नहीं करना था। **किसी भी आसक्ति को लेकर हम मरे, तो प्रभु हमें पुनः पुनः देह देता रहा। कभी तो यह सचेत हो जाएगा, कि मैं कर क्या रहा हूँ, क्या पाना चाहता हूँ, सब कुछ पा भी लूँ, तो क्या हो जाएगा?** अतः इस देह को देने में प्रभु का निजी कोई अर्थ नहीं था।

असंख्य लोग, असंख्य कार्य करते हैं। **इस देह को देने में प्रभु का जीवात्मा के हित में विशेष अर्थ था।** लेकिन **'मैं'** (जीवात्मा) देह के साथ नाम-रूप में तद्रूप होकर उन कार्यों में व्यस्त हो गया, जो प्रारब्धवश स्वतः होने थे। चेतनामयी बुद्धि से कभी तो मैं यह विचार करूँ, कि प्रारब्धवश भी मैं जो कार्य कर रहा हूँ, यदि न करूँ, तो क्या हो जाएगा? यह तथाकथित कर्म प्रारब्धवश है, जो रोज़ी-रोटी के लिए भी हो सकता है। **जो कर्म मैं कर रहा हूँ, वह मेरे बिना भी हो सकता है। यह बात और है, कि मैं उस कर्म को छोड़ ना पाऊँ, लेकिन बात विचारणीय तो है ही।**

प्रभु का, जीवात्मा को मानव-देह देने के पीछे उसी का हितार्थ था, कि वह अपने विशुद्धतम् स्वरूप की अनुभूति कर ले। ईश्वर ने देह की अवधि भी घोषित नहीं की। जिसका विशिष्टतम् अर्थ यही था, कि जीवन

समाप्त होने से पहले शीघ्रातिशीघ्र देह के इस विशेष प्रयोजन को सिद्ध कर ले। साथ ही ईश्वर ने स्पष्ट रूप से दर्शा दिया, कि जीवन में कुछ भी कर या न कर, कुछ पा या खो और कुछ हो या न हो; अन्ततः तेरी डेढ़-दो किलो भस्मी ही बननी है। प्रारब्धवश और जीवन में जो हमारे अन्य अर्थ होते हैं, उनका जो अन्त है, वह सबका एक ही है। जीवन में सब कुछ होने का अन्ततः जो होगा, वह तब होगा, जब **मेरी देह नहीं होगी। 'भस्मी'** मेरी देह का निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य है। लेकिन यह तब होगा, जब देह-रूप में मैं इसे ग्रहण करने के लिए नहीं रहूँगा। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जितने लोग हैं, वे चाहे कुछ भी बन जाएँ या न बनें, उन सबका अन्त यह भस्मी ही होगी।

भगवान शंकर विश्वनाथ हैं। वे भस्मी ओढ़ते हैं और मेरे लिए यह भस्मी तब प्रकट होती है, जब मैं नहीं रहता। जीवन-काल में प्रभु के विशिष्ट अर्थ को न जानते हुए प्रभु की देह समर्पित कर दीजिए। देह के दो अर्थ हुए :—देह का विशिष्टतम् एवं सावधि (अवधि सहित=स+अवधि) होना एवं अवधि को गुप्त रखना। मानव-देह में होश सम्भालने पर, विवेकमयी बुद्धि से सर्वप्रथम प्रभु को इस देह का अर्थ समर्पित कर दीजिए। प्रभु के अर्थ को न जानते हुए समर्पण करने के बाद हमने जो अपना अर्थ लगाया है, उसे भी समर्पित कर दीजिए। **''हे प्रभु ! मैं जो भी बना हूँ, यह प्रारब्धवश ही होगा, परन्तु यह कार्य तो मेरे बिना भी हो सकता है। आपका मुझे मानव-देह देने के पीछे कोई विशेष अर्थ होगा, जो मैं नहीं जानता हूँ।''** प्रारब्धवश जो भी हम कर रहे हैं, उसे छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन उसका प्रभु-चरणों में समर्पण हो जाए तो यहाँ से जीवन **'अर्थ'** से ऊपर उठकर **'यथार्थ'** के क्षेत्र में आ जाएगा।

मेरी देह की भस्मी तब प्रकट होगी, जब मैं नहीं रहूँगा। हे प्रभु ! इसमें तेरा अवश्य ही विशिष्टतम् **'अर्थ'** है। **यह मेरे लिए हो सकता है, लेकिन यह अर्थ पूर्णतः आपका है।** क्योंकि मेरी देह जब भस्मी बनेगी, तब मैं नहीं रहूँगा। जीवात्मा यदि परम सद्गुरु-कृपा से देह के रहते अपने विशुद्ध स्वरूप को पहचान लेता है, तो यही ईश्वर का मानव-देह देने के पीछे अर्थ

है। जीवन-काल में यदि इसकी पूर्ति हो गई, तो जीवात्मा अपनी देह में इसका भोग करेगा। ईश्वर द्वारा स्वतः निर्मित, पालित व संहारित सृष्टि का आनन्द लेगा। **लेकिन देह की भस्मी का अर्थ क्या है, जो देह की है, लेकिन देहातीत है। इसमें प्रभु आपका कोई विशेष अर्थ है, जो मैं देह के होते जानना चाहता हूँ। मेरी देह की भस्मी होगी, लेकिन वह मुझे नहीं पहचानेगी। भस्मी सबकी एक ही होगी। जब मेरी देह का अन्ततः यही होना है, तो मैं कुछ भी क्यों करूँ? मैं जीवन-काल में उस भस्मी की झलक देखना चाहता हूँ। मेरे जीवन-काल में मेरी देह 'भस्मी' न बने, भस्मी की अवधारणा तो बने। 'मैं' अपनी देह का 'भस्मार्थ' जानना चाहता हूँ।** यहाँ से जीवात्मा की पुरुषार्थ की ओर ऊर्ध्वगति होगी। मेरे **'पुरुष'** यानि चेतन सत्ता का अर्थ क्या है? विशिष्टतम् एवं परम दुर्लभ कृपा से जीवात्मा उस भस्मी की अवधारणा को, देह के रहते हुए, देह में धारण करना चाहता है। उसका सारा धर्म-कर्म, कर्ता, कारण सब कुछ जब इसी हेतु लग जाए, तो वहाँ से पुरुषार्थ की ऊर्ध्वगामी श्रृंखला प्रारम्भ हो जाती है—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष।

भस्मी की अवधारणा, सम्पूर्ण मानव-जीवन व मानव-देह का लक्ष्य एवं पुरुषार्थ है। देह में होते हुए हम बहुत कुछ, कभी कुछ-कभी कुछ, थोड़ा कुछ, कुछ न कुछ या सब कुछ, आदि-आदि करते हुए व्यस्त रहते हैं और अन्ततः मरणोपरान्त इन सभी **कुछों** का अन्तान्त कुछ नहीं (भस्मी) में हो जाता है। जीवन भर जो कुछ (सब कुछ, कुछ-कुछ, कुछ न कुछ, थोड़ा कुछ, बहुत कुछ, कुछ तो कुछ, कभी कुछ, कभी कुछ) हमने **समेटा** उसका Ultimate यह **मलियामेट** है। जीवन भर हम देश, काल, सम्बन्धों, मर्यादाओं, धर्म-कर्म-कर्तव्य, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, पद-प्रतिष्ठा, अच्छा-बुरा, मान-अपमान, उन्नति-अवनति और अपनी कुछ न कुछ प्राप्तियों में बँधे रहते हैं। कभी हम कुछ खोना चाहते हैं, कभी कुछ पाना चाहते हैं और कभी कुछ होना चाहते हैं। ईश्वर ने हमें मानव-जीवन देकर इसका अन्ततः जो अन्तान्त होना है, वह हमें प्रत्यक्ष दिखा दिया। वह हम सबका निश्चित, परिलक्षित व दर्शित ऐसा

'कुछ' है, जो **'कुछ नहीं'** (**भस्मी**) है।

मानव-जीवन कोई उपहार नहीं है। हमें क्यों, कैसे, कब मिला और कब छीन लिया जाएगा, परमोत्कृष्ट बुद्धि से हम विचार करके हम जान सकते हैं, कि हम नहीं जानते। अपनी बुद्धि से हम जान भी नहीं सकते। मानव-देह जैसी देह, जगत में किसी प्राणी की नहीं है। मानव-देह ही सृष्टिकर्ता के निर्माण, पालन की गुणात्मकता, रहस्यात्मकता और विचित्रता का आकलन करती है। मानव-देह के संहार के बाद उसके लिए सारी सृष्टि लय होती जाती है। **जीवात्मा को दी गई मानव-देह जब पाँच तत्त्वों में लीन हो जाती है, तो उसे संहार कहा जाता है।** मानव-देह द्वारा ही जीवात्मा दृष्टा बनता है। सृष्टिकर्ता की समस्त संरचना प्रपंच है अर्थात् जो पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—इन पंच-महाभूतों पर आधारित हो, वह **'प्रपंच'** है।

ईश्वर ने समस्त प्रपंच में सर्वोत्कृष्ट प्रपंच जीवात्मा को मानव-देह के रूप में दे दिया। तू देह धारण नहीं करेगा, तो प्रपंच नहीं देख सकेगा। क्योंकि देह न हो तो जगत नहीं हो सकता। वह जगत देह सहित ही प्रकट और लीन होता है। सुषुप्ति, मृत्यु, मूर्च्छा, विस्मृति आदि अवस्थाओं में जीवात्मा के लिए देह (नाम-रूप की चेतना) नहीं होती, इसलिए तदनुसार जगत भी नहीं होता। **इस प्रपंच में खेल के दो पहलू हैं-मेरी देह और जगत। दोनों निराकार मानस से प्रकट होते हैं।** जिस समय जिस मानस से मेरी देह प्रकट हुई है, उस समय उसी मानस से जगत भी बना-बनाया प्रकट होता है। **मेरी देह और जगत का यह द्वैत सा, खेल में है।** ईश्वर ने जीवात्मा को कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों के समस्त प्रपंच का संघनित रूप, महाप्रपंचमय सर्वोत्कृष्ट मानव-देह दी, कि यह देह का बाना पहन, पंच-महाभूतों के इस समस्त प्रपंच को अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देख, सुन, सूँघ, चख व स्पर्श कर। यह माया है। है **'कुछ नहीं'**। ईश्वर ने उसे इस प्रपंच में फँसने के लिए यह प्रपंचमयी मानव-देह नहीं दी थी। **जगत, जो था नहीं, रहेगा नहीं, वह है भी नहीं। जो प्रपंच है, वह देह के प्रपंच द्वारा ही आभासित होता है और ज़रा सी झपकी से भी देह सहित लय हो जाता है।**

इस प्रपंच से बाहर आने के लिए ईश्वर ने जीवात्मा को निर्देश दिया था, कि सब कुछ देख, सुन, चख, सूँघ और छूकर फिर तू नेत्र बंद कर लेना। **मेरा ध्यान करना, तू मेरा एकमात्र मानस-पुत्र जीवात्मा है। तू नाम-रूप की देह धारण करने वाला जीव नहीं है।** महादुर्भाग्यवश जीवात्मा नेत्र बंद करके भी जीव बनकर प्रपंच में लिप्त हो गया, कि मैंने (जीव बने जीवात्मा) इतनी धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा अर्जित कर ली, मैंने अपनी सन्तान को उच्च शिक्षा दिलाई, अब मैं उसके लिए और क्या-क्या करूँ, व्यापार कैसे बढ़ाऊँ आदि-आदि। **इस प्रपंच में उसका थकना और तरोताज़ा होना दोनों प्रपंच थे। प्रपंच में होने वाली भाग-दौड़ में कर्ता भाव के कारण जीव थक कर सोता है, फिर तरोताज़ा होकर पुनः भटकने लगता है।** यह कर-कर, करता हुआ थकता रहा, सोता रहा और विभिन्न सपनों में ही विचरता रहा। विभिन्न स्वप्नों में कुछ भी इसके हाथ नहीं लगा। **उस देह की भस्मी भी नहीं थी, मात्र मानसिक स्थिति शेष रही।** उस मानसिक स्थिति ने दूसरा स्वप्न प्रकट कर दिया। **उसके बाद तथाकथित जाग्रत होने पर पुनः मानसिक स्थिति शेष रही।** यही युगों-युगान्तरों में विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों की हमारे जीवन की श्रंखला है।

स्वप्न वाली देह की भस्मी तो तब होती, जब कुछ होता। देह सहित जगत तो प्रपंच (पंच-महाभूत) पर आधारित प्रपंच था। **इतने जन्मों में इतनी देहें मिली, जिनकी स्मृति भी नहीं है, क्योंकि वे प्रपंच थीं।** इसीलिए **'मैं'** (जीवात्मा) ने ईश्वर द्वारा इस प्रपंच को देखने के लिए दी गई मानव-देह की **'भस्मी'** कभी नहीं देखी। जब देह की **'भस्मी'** बनती है, तो देह रूप यह नहीं रहता और समस्त प्रपंच का लय हो जाता है। सद्गुरु कहता है, कि **'भस्मी'** द्वारा ईश्वर तुझे यह दिखाना चाहता है, कि तेरा अन्तान्त यह **'कुछ नहीं'** है। जब स्वप्न का **'सब कुछ'** (देह व उस पर आधारित उस समय का जगत) नहीं रहता, तो **'कुछ नहीं'** तेरी मानसिकता है, जिससे एक अन्य प्रपंचमय संसार निर्मित, पालित व संहारित होते हुए तेरे लिए, तेरी दूसरी देह सहित जगत बन कर प्रकट होता है।

देह होगी, तो भस्मी होगी। सद्गुरु अति कृपालु होकर इस प्रपंचमय मायिक संसार और प्रपंच की देह से बाहर आने के लिए जीव बने जीवात्मा को देह रहते, उसकी भस्मी की अवधारणा का सद्निर्देशन देता है। **सब कुछ** से बाहर आने के लिए तू **'कुछ नहीं'** (भस्मी) का अवलम्बन ले ले। **कुछ नहीं** यानि भस्मी को अपने **सब कुछ** में, दूध में दही के जामन की तरह लगा दे। फिर उस देहातीत स्थिति में न **सब कुछ** होगा, न **कुछ नहीं** होगा। इस प्रकार तू **सब कुछ** होते हुए इस **कुछ नहीं** द्वारा प्रपंच से बाहर आ जाएगा। फिर तू मात्र विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप में रह जाएगा। **'भस्मी'** देहातीत है। **इसीलिए इस प्रपंच का Outlet केवल यही है।** जब जीवात्मा, जीव-भाव में रहते हुए विशिष्टतम् सद्गुरु-कृपा से अपनी देह की 'भस्मी' की अवधारणा द्वारा देहाध्यास से बाहर आ जाता है, तो उसे भस्माध्यास हो जाता है। वह जीव-भाव से मुक्त हो जाता है। तब देह के साथ उसकी नाम-रूप में तद्रूपता विलीन हो जाती है। परम वैरागमय मानसिक स्थिति से अपने विशुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप की अनुभूति करता हुआ, जीवात्मा दिव्य-दृष्टि प्राप्त कर लेता है। फिर वह लीला में देह धारण करता है, देह उसे धारण नहीं करती। वह संसार में रहता है, संसार उसमें नहीं रहता।

'भस्मी' की अवधारणा का ज़रा सा जामन देह में रहते हुए उसे धीरे-धीरे देहातीत स्थिति में ले जाता है। जैसेकि थोड़े से दही का जामन ढेर सारे दूध को दही बना देता है और दही को पुनः दूध में नहीं परिवर्तित किया जा सकता। उसी प्रकार भस्मी के रूप में विरक्ति का थोड़ा सा जामन देह और देह पर आधारित जगत की समस्त आसक्तियों को अनासक्ति में रूपान्तरित करते हुए, उसे विरक्त कर देता है:–

''निराकाररूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्
सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(15 जून और 26 जून 2007)